श्रीमान् पं. पद्मचन्द्र शास्त्री के करकमलों में सादर भेंट -

॥ श्री ऋषभदेवाय नमः ॥

11/2/96

आदि ब्रह्मा ऋषभदेव

RISHABHA DEVA

(The founder of Jainism)

आशीर्वाद एवं सम्प्रेरक :
युवामनीषी, आध्यात्मिक संत
मुनि पुंगव 108 श्री सुधासागरजी महाराज ससंघ
पू. क्षु. श्री गम्भीरसागरजी महाराज
पू. क्षु. धैर्यसागरजी महाराज

मूल लेखक (अंग्रेजी)
बैरिस्टर चम्पतराय जैन

हिन्दी अनुवादक :
डॉ. रमेशचन्द जैन,
एम.ए.पी.एच.डी, डी. लिट्, जैन दर्शनाचार्य,
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर

प्रकाशक :
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
सरस्वती भवन, सेठजी की नसियाँ
ब्यावर (राज.) 305 01

प्रेरक प्रसङ्ग :
पूज्य श्री १०८ आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम् शिष्य मुनि श्री १०८ सुधासागरजी महाराज, क्षुल्लक श्री १०५ गम्भीरसागरजी महाराज, एवं क्षुल्लक श्री १०५ धैर्यसागरजी महाराज का पीसांगन मंगलमय आगमन के शुभ अवसर पर प्रकाशित।

न्योछावर राशि - **25/-**

केन्द्र सम्पादक - 1. डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर डी. लिट.
2. डॉ. अरुण कुमार व्याकरणाचार्य, ब्यावर (राज.)

वीर निर्वाण संवत् 2521

संस्करण : प्रथम

प्रतियाँ : 2000

ईस्वी संवत् : 1994

प्राप्ति स्थान :
1. आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र "सरस्वती भवन"
   सेठ जी की नसियां ब्यावर राज. 305 001
2. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर (अतिशय क्षेत्र)
   मन्दिर संघी जी, सांगानेर (जयपुर) राजस्थान

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवं

क्षु. श्री गंभीरसागरजी, एवं क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

सौजन्यता :

श्री निहालचन्दजी, विमलचन्दजी, नरेश, राहुल, विनीत पाटौदी, पीसांगन	1000
श्री गुलाबचन्दजी, पदमचन्दजी दोषी, पीसांगन	500
श्री कुन्तीलालजी, प्रदीपकुमारजी, अनिलकुमारजी, सुनीलकुमारजी, राहुलकुमारजी गंगवाल, पीसांगन	500

प्रकाशक :

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ-विमर्श केन्द्र सरस्वती भवन,

सेठ जी की नसियाँ, ब्यावर (राज.)

मुद्रण एवं लेज़र टाइप सैटिंग :

निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स

पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 422291

परम पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

प्रकाशकीय समर्पण

卐

पंचाचार युक्त

महाकवि, दार्शनिक विचारक,

धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द

की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,

परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में

एवं

इनके परम सुयोग्य

शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त

जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,

वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ

उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि

श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र

ब्यावर राज. की ओर से

सादर समर्पित ।

प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है। इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे। इस प्राणवान बहूमूल्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यों का महान योगदान रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्यनादि कार्य सम्पादिक किये गये। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जैन-अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए। फलतः इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकाराच्छादिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये। इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है। विद्वानों के शोध- अनुसंधान- अनुशीलन कार्यो को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुइ, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्ववानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य-विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी है तो शोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। और भी अनेक बाधायें/समस्यायें जैन ग्रन्थों के शोध-अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में है, अत: समस्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं -उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र. भूरामल शास्त्री (आ. ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है। महाकवि ने चार- चार संस्कृत महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया। यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ। इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परानायक सन्तशिरोमणी आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यर्थाथ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू. मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ। राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत्/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयोजित हुई व इसी सुअवसर पर दि. जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चार्तुमास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. मुनि श्री के सानिध्य में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने, शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन विद्या

पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन - प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये। इसके अनन्तर मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संघ सानिध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्वसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठि में उक्त कार्यों के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द्र जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू. मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18.3.95 को त्रैलोक्य तिलक महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बलस किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन- समीक्षा- अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों को विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के प्रथम मास में ही निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प - हित सम्पादक - आचार्य ज्ञानसागरजी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक - मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ. श्रीमती विजयलक्ष्मी जैन
पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
षष्टम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरुप - डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित
सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समिक्षा डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
अष्टम पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा डॉ. श्रीमती विजयलक्ष्मी जैन
नवम पुष्प - आदि ब्रह्मा ऋषभदेव बैरिस्टर चम्पतराय जैन द्वारा लिखित अग्रेजी पुस्तक का अनुवाद डॉ रमेशचन्दजी जैन, बिजनौर द्वारा किया गया है। इस पुस्तक में जैन धर्मानुसार हुण्डावसर्पणी काल के आदि तीर्थ प्रर्वतक ऋषभदेव के जीवन चरित्र को आधुनिक शैली में प्रस्तुत किया गया है पाठकों को इस पुस्तक से ऋषभदेव से सम्बंधित समस्त ऐतिहासिक जानकारी सुगमता से हासिल हो सकेगी।

अस्तु।

अरुणकुमार शास्त्री,
ब्यावर

पुरोवाक्

ऋषभदेव वर्तमान अर्द्ध कालचक्र में जैनधर्म के संस्थापक थे। यद्यपि वे मानव थे, किन्तु वे अमर और तीर्थंकर हो गए और उन्होंने दूसरों को पूर्णता का पाठ पढ़ाया। असंख्यात आत्मायें उनकी शिक्षाओं से लाभान्वित हुई हैं। उनके अनन्तर तेईस तीर्थंकर हुए, जिन्होंने उनकी शिक्षाओं को पुन: दुहराया। वह अत्यधिक पुरातन काल में देदीप्यमान हुए। आगे के पृष्ठों में उनकी जीवनी का अङ्कन किया जायेगा। इसका विवरण आदिपुराण नामक आगम ग्रन्थ पर आधारित है। श्री बिहारी लाल चैतन्य द्वारा संक्षिप्त रूप से लिखे गए संक्षिप्त आदिपुराण से भी मदद ली गई है। ऋषभदेव के युग की तिथि सामान्य रूप से अनिश्चित है। जो कुछ उनके समय के विषय में कहा जा सकता है वह यह है कि उनका काल सभी बौद्धिक धर्मों से पूर्व का था, क्योंकि सभी क्षेत्र और मनुष्यों के सभी पौराणिक शास्त्र तथा सभी दृष्टान्त कथायें जिनकी व्याख्या बौद्धिक है, उनके द्वारा उपदेशित सत्य के अंशमात्र को पुष्ट करते हैं। उनके शब्द के आलोक के बिना उपर्युक्त शास्त्र अच्छी तरह से नहीं समझे जा सकते हैं और गुमराह होना पड़ता है। जैन कालगणना के अनुसार वे भूतकाल में असंख्यात वर्षों पूर्व हुए थे। किन्तु विधिपूर्वक गणना करने पर यह सन्देह के अन्तर्गत हैं। हिन्दू जो कि तीर्थंकर ऋषभदेव को विष्णु के अनेक अवतारों में से एक मानते हैं, का मानना है कि उनका उदय सृष्टि निर्माण के थोड़े ही समय बाद हुआ। और तब से लेकर 28 युगों से कम नहीं बीते हैं। वह सब जो कि उनके काल के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है यह है कि वे प्राचीन से भी प्राचीनतम काल में हुए थे और वे धर्म के सभी क्रमबद्ध रूपों के पूर्व हुए थे।

मेरी विल्ला
शिमला 19 मई 1929.

चम्पत राय जैन

भूमिका

धर्म मनुष्य के साथ उत्पन्न हुआ। प्रत्येक कालचक्र में प्रथम पूजित व्यक्ति ही धर्म का संस्थापक होता है, फिर भी विज्ञान के रूप में धर्म नित्य है, क्योंकि सभी विज्ञान यथार्थ में नित्य हैं।

धर्म एक विज्ञान है, इससे हमें आश्चर्यान्वित नहीं होना चाहिए। यह या तो तथ्य है या तथ्य पर आधारित है या कल्पना है। कल्पना और तथ्य के बीच की कोई मध्यम स्थिति नहीं है। जो कि निश्चित और विश्वसनीय है, वही सदैव तथ्य है। जिस पर निश्चित और स्पष्ट रूप से विचार नहीं किया जा सकता और फलत: जो अविश्वनीय है, वह तथ्य नहीं है। तथ्य सदैव बौद्धिक व्याख्या एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित होता है।

नित्य आत्मा, जिसे बाद की सांसारिक जीवनवृत्ति में ईश्वर के रूप में पूजित होता है उसे ऐसे सांसारिक गुणों को पैदा करने में अग्रसारित होना पड़ता है, जैसे - अध्ययन, श्रद्धा, प्रेम, विनय, सेवा, क्षमा इत्यादि। इस रूप में यह (आत्मा) पूजा की पात्र हो जाती है। इन पूजित व्यक्तियों में से जिनकी ज्वलन्त इच्छा यह रही है उनके साथी प्राणियों की पीड़ा को दूर कर उन्हें ज्ञान तथा हार्दिक सुख पहुँचायें, ऐसी आत्मायें तीर्थंकर होती हैं। उन्हें उपदेशक ईश्वर भी कह सकते हैं।

तीर्थंकरों का प्रादुर्भाव केवल आर्य जातियों में हुआ है। वे सर्वज्ञ और (आत्मिक अर्थ में) सर्वजयी होते हैं और सबसे अधिक प्रतिष्ठित पूर्णताओं को प्राप्त करते हैं, जिसे कि मनुष्य की शक्ति विचार सकती है। सर्वज्ञता प्राप्त होने पर वे अपना उपदेश देते हैं। अनार्यों में किसी ने स्पष्टत: यह दावा नहीं किया है कि मानव ने पूर्णज्ञान और ईश्वरत्व प्राप्त किया है। उनके सभी ईश्वर स्वर्ग से अवतरित हुए हैं अत: वे बोलने के लिए पहले से तैयार हैं। वे बिना किसी अपवाद के पौराणिक हैं। किसी भी अनार्य धर्म में यह स्वीकार नहीं किया गया है कि मनुष्य सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सदैव के लिए सुखमय हो सकता है। यथार्थ रूप में वे उस एकान्त रूप से काल्पन्कि ईश्वर की सर्वोच्चता बनाए रखने के इच्छुक हैं, जिसे वे कर्त्ता और विश्व के प्रबन्धक के रूप में सम्मान देते हैं। यह ऐसा दावा है जिसे वे आधुनिक विज्ञान की उपस्थिति में धीरे-धीरे छोड़ रहे हैं, किन्तु वे निश्चित होने के लिए कोई संघर्ष नहीं करते। मनुष्य के द्वारा निर्मित, आर्यधर्म, आधुनिक विज्ञान के समान विश्व में सृष्टिकर्त्ता और नियामक ईश्वर का निषेध करता है या निषेध कर चुका है। यह प्रत्येक वस्तु को प्रकृति के लौहनियमों के अधीन करता है। दर्शन, आचार, भाव और आन्तरिक अनुभव सभी क्रमिक विचारों की न्यायिक परिधि में आते हैं। यह स्वाभाविक रूप से विज्ञान की प्रमुख विशेषता है।

ऐसी स्थिति में धर्म विज्ञान है और इसका उद्भव आर्यों में हुआ। आर्यों में इसका उद्गम जैनों में हुआ, अजैन आर्यों में नहीं हुआ। अजैन आर्य भी हैं, किन्तु इनका उद्गम उनके साथ नहीं हुआ था। वे भी सृष्टिकर्ता ईश्वर के अन्धविश्वास में लगे हुए हैं और अपनी भौतिक और आत्मिक आवश्यकताओं के लिए एक विश्व व्यवस्थापक से प्रार्थना करते हैं। उनका भी यह दावा नहीं है कि धर्म की स्थापना मनुष्य ने की थी। मनुष्य के उपदेश की अपेक्षा वे दैवीय उक्तियों को अपने धर्मों का स्रोत होने का दावा करते हैं। निश्चित रूप से इस सब की उपस्थिति में वैज्ञानिक विचार का रूप नहीं है। धर्म की स्थापना किसने की ? जो स्वर्ग से अवतरित हुआ था वह मनुष्य

था या नहीं ? उसने वैज्ञानिक ढंग से क्या उपदेश दिया । क्या कोई उसके उपदेशों से लाभान्वित हुआ और सब प्रकार से उसके समान हुआ ? इन सबका सन्तोषजनक उत्तर जैनधर्म से बाहर नहीं है, चाहे वे आर्य हों अपना मनुष्यों की दूसरी जातियाँ हों ।

खोजने वाला अकेले जैनधर्म में उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर पा लेगा । धर्म की स्थापना मनुष्य ने की है । यह पूर्ण शान्ति है ! विश्व का कोई सृष्टा नहीं है । मानव की प्रार्थनाओं को स्वीकार करने वाला कोई नहीं है । धर्म का अनुसरण कर मनुष्य सब मायनों में धर्मोपदेशक के समान हो सकता है । समय-समय पर छोटे, बड़े दूसरे धर्मोपदेशकों का उदय होता रहा और उन्होंने सत्य के सिद्धान्तों का पुनर्निधारण किया । जैनधर्म में उन बहुत सी आत्माओं का विवरण है, जिन्होंने देवत्व प्राप्त कर लिया है और अब निर्वाण की अवस्था में रह रही हैं । वे सर्वोच्च दैवीय और पूजित गुणों, जैसे सर्वज्ञता, नित्यता, अविनाशिता, निर्विघ्नता तथा अविच्छिन्न सुख का अनुभव कर रही हैं ।

इस प्रकार जैनधर्म अकेला वैज्ञानिक धर्म है, जिसकी खोज और उद्घाटन मनुष्य ने मनुष्य के लाभ तथा समस्त जीवित प्राणियों के लिए की ।

पौराणिक धर्म भी जहाँ कहीं वे सत्य के बीज, जो कि कल्पनाओं और कल्पितकथाओं के नीचे दबे पड़े हैं, को सुदृढ़ करना चाहते हैं, जैनधर्म की शिक्षाओं का समर्थन करेंगे। यथार्थ में सारी पुराकथायें तीर्थंकरों के द्वारा उपदेशित सत्य से प्रारम्भ हुईं । यह स्वाभाविक है । अपने मूल रूप में वैज्ञानिक धर्म में किसी प्रकार का दोष और छिपाव नहीं हो सकता । मनुष्य द्वारा दैवत्व की प्राप्ति का इरादा किसी चीज को गुप्त रखना नहीं था, गुप्त रखा भी नहीं जा सकता । इसके सिद्धान्त बैलगाड़ी और ऊंट के काफिलों के उस युग में बहुत धीरे-धीरे फैले । यह कारण है कि विस्तृत उपदेशों की अपेक्षा आपको उन उपदेशों के अंश प्राप्त होंगे । संक्षिप्त रूप में आज इन्हें विश्व की पौराणिक कथाओं में प्राप्त किया जाता है । टुकड़े और खण्ड इतने पृथक्- पृथक् और बिना मिले हुए पाये जाते हैं कि उन्हें सही रूप में पुन: स्थापित करना भागीरथ प्रयास होगा । विश्व की भिन्न-भिन्न पौराणिक कथाओं और धर्मशास्त्रों की व्याख्या करने से सही सिद्धान्त मेरी पूर्व की कृतियों 'की ऑफ नालेज', 'द कन्फ्यूएन्स ऑफ अपोजिट्स' तथा अन्य पुस्तकों में व्याख्यायित किए गए हैं । जहाँ तक धर्म की प्रकृति तथा विश्व के धर्मशास्त्रों की व्याख्या की बात है, मुझे विश्वास है कि यदि कोई धर्म का अध्ययन एक विज्ञान के रूप में करता है, जो कि करना चाहिए, तो वह उन पुस्तकों में जो कहा गया है उससे भिन्न मत नहीं रखेगा ।

पूरा चित्रण, सब कुछ स्पष्ट प्रकाश केवल जैन धर्म में प्राप्त होगा । विषय पर हमें गलत दिशा नहीं लेनी है । सत्य के पूर्ण और बिना छेड़छाड़ किए विवरण, जिनका कि उपदेश प्रथम तीर्थंकर (ऋषभदेव) और अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने दिया, के हेतु हमें जैन धर्म के सजीव लेख प्रमाणों को देखना है । महावीर 2500 वर्ष पूर्व हुए थे।

प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के भक्त या सदस्यों के क्रूर व्यवहार के कारण जैन धर्म को पुरानी कई शताब्दियों तक बड़े उथल पुथल का अनुभव करना पड़ा । बाद में आक्रमणकारी विदेशी तानाशाहों के स्नानगृहों में अग्नि जलाने के लिए जैन धर्मग्रन्थों का प्रयोग किया गया । सत्य के उपदेशों का इस प्रकार बहुत लोप हो गया । सत्य की सारी शिक्षाओं को स्मृति में अवधारित करने की बढ़ती हुई असमर्थता के कारण बहुत कुछ पहले ही नष्ट हो चुका था । महावीर के बहुत दिनों बाद लिखने

को बहुत कम बचा था। कुछ जैन ग्रन्थों के ब्राह्मणों की घृणा के तुष्टीकरण हेतु ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी क्रियाकाण्डों का प्रेक्षपीकरण कुछ ग्रन्थों में किया गया। सम्भवत: यही एक साधन छूटा हुआ था, जिसके अन्तर्गत वैसी परिस्थिति में धर्म तथा धार्मिकों के समुदाय को सुरक्षित रखा जा सकता था। इसी प्रकार के उद्देश्य के साथ कुछ हिन्दु देवों को जैन मन्दिरों में छोटे-छोटे स्थान प्राप्त हुए। उन्हें क्षेत्रपाल (क्षेत्र के रक्षक) कहा गया। उन्होंने निश्चित रूप से हिन्दू उन्माद से मन्दिरों की रक्षा की किन्तु वे मुस्लिम आक्रमण से रक्षा करने में असमर्थ रहे।

जैन धर्म में परिवर्तित हिन्दुओं ने भी जैन परम्परा में हिन्दू पौराणिकता के प्रभाव को कायम रखा। यह पूरी तरह से स्वाभाविक है और स्वाभाविक धरातल पर समझने योग्य है। जैन धर्म उस सिद्धान्त और महाप्रतापी धर्म को उपस्थित करने में अब भी समर्थ है जो अपनी व्याख्या में पूर्णत: वैज्ञानिक है और जिनका धर्म से सम्बन्ध है, इस प्रकार का जीवन सभी समस्याओं को व्यावहारिक रूप से सुलझाने का साधन जुटाता है। एक बारगी यह विज्ञान है, धर्म है, दर्शन है और आत्मोन्नति करने वाला क्रिया काण्ड है। यह पापी से पापी को भी पूरी सामाजिक स्थिति, दैवत्व की प्रतिष्ठा में उठाने में समर्थ है।

मैं समझता हूँ कि यथार्थ सत्य का अन्तिम परीक्षण अन्य सभी, जिनके पास सत्य या सत्य का बीज है, को समायोजित करने की योग्यता की पद्धति होना चाहिए। मैं कह सकता हूँ कि यह अकेली जैन धर्म की विशेषता है, जैसा कि उन पुस्तकों में प्रदर्शित किया गया है, जिनका नाम लिया गया है। कोई भी व्यक्ति नि:सन्देह रूप से अपने धर्म के लिए यह विशेषाधिकार रखने का दावा कर सकता है, किन्तु हम केवल विशाल ह्रदयता की ही बात नहीं करते हैं। कोई भी धर्म चाहे वह एकदेववादी हो या अनेकदेववादी अथवा अन्य हो दूसरों के साथ समायोजन नहीं कर सकता या दूसरों के साथ समायोजन करके का माध्यम नहीं हो सकता है। विचारों की सापेक्षता का जैन सिद्धान्त वह है, जो कि इस महान् कार्य को पूर्ण कर सकता है, अन्य कभी नहीं कर सकता है।

जैन धर्म का उदभव भारत में हुआ। जैन ग्रन्थों मे यह प्रमाणित है। इसके अतिरिक्त दो अन्य विचार इस विषय में जैन दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। पहला भाषा वैज्ञानिक और दूसरा पौराणिक है। पूर्ववर्ती यूरोपीय और भारतीय दोनों अन्वेषकों ने प्रथम बिन्दु पर पहले से ही बहुत कहा है कि संस्कृत धातुओं के चिन्ह विश्व के अनेक देशों में भिन्न-भिन्न भाषाओं में पाए जाते हैं। इनमें से कुछ अन्वेषक यह सोचते हैं कि आर्यजातियों का मूलनिवास मध्य एशिया में कहीं होना चाहिए। यह तर्क मेरे मस्तिष्क को अपील नहीं करता है और इसने दूसरे बहुत से विचारकों के चित्त को भी आकर्षित नहीं किया है। मध्य एशिया में (यथार्थ में भारत से बाहर कहीं भी) कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जिसे संस्कृत का या इसे जन्म देने वाली भाषा का मूलस्थान कहा जा सके। दूसरी ओर भारत यथार्थ रूप में आज भी संस्कृत का घर है। दूसरा विचार, जिसे मैं निर्णायक मानता हूँ, पौराणिक है। यह विश्व की पुराकथाओं में नि:सन्देह रूप में उपस्थिति पर आधारित है। यह सत्य का बीज है। इसमें आत्मा की प्रकृति के विषय में तथा उसमें निहित दैवत्व, आवागमन, कर्म तथा आत्मा की निर्वाण को प्राप्त करने की योग्यता के विषय में तीर्थंकरों की शिक्षायें हैं। अब यह निश्चित है कि भारत के अतिरिक्त संसार के किसी भी भाग में इस प्रकार की शिक्षा नहीं दी गई। दूसरे देशों में आप पुराकथाओं के सम्पर्क में आयेंगे, विज्ञान के नहीं। तीर्थंकरों ने कभी

भी पौराणिक कथाओं या देवी देवताओं की कथाओं का प्रचार नहीं किया। उन्होंने अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिए पौराणिक भाषा का आश्रय नहीं लिया ? उसका कारण यह है कि पौराणिक कथा सत्य को छिपाने के प्रयत्न में दृष्टान्त कथाओं के आकर्षक वेष में रहती है। अन्त में यह मानवता को गुमराह करती है। मनुष्य के प्रमुख धार्मिक युद्ध निरपवाद रूप से पौराणिक कथाओं से उद्गमित हुए हैं और इनका अन्त उस क्षण हुआ, जब मनुष्य ने इन्हें उखाड़ फेंका ? यह इस बात को पूर्णत: स्पष्ट करता है कि सत्य का स्रोत जैनधर्म और भारत से बाहर उद्गमित नहीं हुआ। सम्भवत: पौराणिक दृष्टान्त कथाओं ने भारतवर्ष में सबसे पहले स्थान ग्रहण किया। तीर्थंकरों के धर्म के कुछ अनुयायियों ने एक समय दृष्टान्त कथाओं को लिया, जब कि उन्हें हिदायत देने को कोई सर्वज्ञ नहीं था और पुरातन काल बहुत आकर्षक सिद्ध हुआ था। उनका दूसरों ने अनुसरण किया। आर्य दृष्टान्त कथाओं को कहने वालों की नकल करते हुए बाहर के लोनों ने शीघ्र ही विशाल विशाल मन्दिर बनाए, जो सभी देवताओं को समर्पित थे। बाद में वैज्ञानिक वर्ग और पौराणिक कथाकारों के मध्य तीक्ष्ण भेद घटित हुआ। पहले के उत्तराधिकारी आजकल जैन कहलाते हैं। जिन्होंने सबसे पहले दृष्टान्त कथाओं का आश्रय लिया, वे हिन्दू हैं।

इस प्रकार भारत के अतिरिक्त कोई भी देश नहीं पाया जा सकता जिसे संस्कृत भाषा तथा उन व्यक्तियों के धर्म का, जो कि उस भाषा को बोलते हैं, का जन्म स्थान कहा जा सके। तब भारत आर्यों का यथार्थ निवास गृह होना चाहिए। भरत के बाद उसे भारतवर्ष के रूप में जाना गया। भरत आर्यों का प्रथम चक्रवर्ती था और प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का पुत्र था। हिन्दू और जैन दोनों परम्पराओं ने इस विचार को बनाए रखा है। तथा कथित आदिवासी यथार्थ में भारतवर्ष के मूलनिवासी नहीं है। जैन धर्म के अनुसार पूर्वकाल में भारत वर्ष बहुत से आवक्रक आए। भरत जब अपनी विश्वविजय से लौटे तो उनके स्वयं के साथ बहुत से दूसरे देशों के मनुष्य आए। उत्तरवर्ती समयों में उत्तर से बहुत सुनियोजित आक्रमण हुआ, जिसने दोनों पक्षों के भूमि पर बस जाने के गतिरोध को दूर किया। पूर्व परम्परा के अनुसार ये मुख्यत: महत्त्वपूर्ण अन्त: प्रवेश हैं और इस विवरण को पूर्वत: रद्द कर देने का कोई कारण नहीं है दूसरे विचार सभी छोटे-छोटे हैं और उन प्रमुख दो युक्तियों को प्रभावित नहीं करते हैं, जो कि इस दृष्टिकोण को एक अथवा दूसरे तरीके से समर्थित करने में करते हैं, ऊपर अग्रमारित की गई हैं।

हिन्दुओं ने धर्म को स्वयं ऋषभ का रूपक माना और उन्हें विष्णु के प्रमुख अवतारों में सम्मिलित किया। वे तीर्थंकरों के भेदक चिन्हों का प्रयोग करते हैं। वृषभ को वे धर्म का प्रतीक मानते हैं। इस प्रकार नि:सन्देह रूप में वे उन्हें (ऋषभदेव को) धर्म के संस्थापक के रूप में स्वीकार करते हैं।

(देखो- 'द कन्फुलएन्स ऑफ अपोजिट्स' -
असहमत संगम तथा 'द परमानेन्ट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष' -
भारतवर्ष का स्थायी इतिहास जिल्द - पृ. 213

❑❑❑

हिन्दी अनुवादक की ओर से

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर माने गए हैं । इनमें से प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव थे । भागवत पुराण में ऋषभदेव को विष्णु का आठवां अवतार स्वीकार किया गया है। उनका जीवन महान् था तथा उन्होंने बड़ा तप किया । श्रमणों को उपदेश देने के लिए उन्होंने अवतार लिया था। अन्त में ऋषभदेव कर्मों से निवृत्त महामुनियों को भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमय परमहंस धर्म की शिक्षा देने के लिए सब त्याग कर नंगे, बाल खुले हुए ब्रह्मावर्त से चल दिए थे । राह में कोई टोकता था तो मौन रहते थे । लोग उन्हें सताते थे, पर वे उससे विचलित नहीं होते थे, मैं और मेरे के अभिमान से दूर रहते थे । परम रूपवान् होते हुए भी वे अवधूत की तरह एकाकी विचरण करते थे । देह में धूल भरी थी । असंस्कार के कारण बाल उलझ गए थे - इन सब कथनों के पीछे जैनधर्म की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ।

विश्व के सर्वप्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है । यथा- ऋषभं मा सपत्नानां सपत्नानां विषासहिम् । हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्" । महाभारत के अनुशासन पर्व में महादेव के नामों के साथ ऋषभ नाम भी गिनाया है - ऋषभं त्वं पवित्रणां योगिनां निष्कल: शिव: ।

अग्नि पुराण, कूर्म पुराण, वराह पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा वायु पुराण में भी ऋषभदेव सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं । अग्नि पुराण में कहा गया है -

जरामृत्युं भयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम् ।
नाधर्मे मध्यमं तुल्या हिमदेशात्तु नाभितः ।
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोऽदात् श्री पुत्रे शाल्यग्रामे हरि गतः ।
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमति स्त्वभूत ॥

अग्निपुराण 10-10-11

उस हिमवत् प्रदेश (भारतवर्ष) में बुढ़ापा और मरण का कोई भय नहीं था, धर्म और अधर्म भी नहीं थे । उनमें मध्यम - समभाव था । ऋषभ ने राजश्री भरत को प्रदान कर संन्यास ले लिया। भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ । भरत के पुत्र का नाम सुमति था ।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों से भी ऋषभदेव की मान्यता का समर्थन होता है । खण्डगिरि, उदयगिरि का शिलालेख इसका प्रमुख साक्षी है । यह शिलालेख बहुत प्राचीन है । इसमें कलिङ्गराज खारबेल द्वारा मगधेश नन्दराज को विजित कर अग्रजित की मूर्ति को वापस लाने का उल्लेख है। यहां पर अग्रजित शब्द का प्रयोग भगवान् ऋषभदेव के लिए ही हुआ है । इससे स्पष्ट पता चलता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण ऋषभदेव की पूजा भगवान् महावीर की तरह ही की जाती थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में खड़ी अवस्था में अंकित मूर्तियाँ प्राप्त हुई है, जो कायोत्सर्ग मुद्रा को प्रकट करती है। मथुरा संग्रहालय में दूसरी शती की कायोत्सर्ग में स्थित वृषभदेवजिन की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली में सिंधु से प्राप्त मोहरों पर अङ्कित खड़ी हुई देवमूर्तियों की शैली बिलकुल मिलती जुलती है । इन मूर्तियों के नीचे बैल भी अङ्कित है, जिसे भगवान् ऋषभदेव के चिन्ह के रूप में माना जा सकता है । मोहनजोदडो से प्राप्त एक नग्न योगी की मूर्ति को श्री रामप्रसाद चन्दा ने ऋषभदेव की मूर्ति बतलाया है । कुछ विद्वान् इसे शिव की मूर्ति भी मानते हैं। हड़प्पा से प्राप्त नग्न कबन्ध को श्री रामचन्द्रन ने ऋषभदेव की मूर्ति बतलाया है । इस पर डॉ.

राधाकुमुद मुकर्जी जैसे विद्वानों ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि ये मूर्तियाँ ऋषभ का ही पूर्व रूप हैं तो शैवधर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन शैव सभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धु सभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच खोई हुई कड़ी का एक उभय साधारण सांस्कृतिक परम्परा के रूप में उद्धार हो जाता है।

जैन मान्यतानुसार भगवान् ऋषभदेव ने सृष्टि के आदि में जीवों को असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य की शिक्षा दी तथा सभी प्राणियों को भलीभाँति जीवनयापन का मार्ग बताया। इस कारण उन्हें प्रजापति कहा गया। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है -

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः ।
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥

स्वयम्भूस्तोत्र

आर्यों के आगमन के पूर्व इस देश में एक भिन्न प्रकार की संस्कृति प्रचलित थी, जिसे द्रविड़ संस्कृति के नाम से अभिहित किया जाता है। द्रविड़ों की सभ्यता आर्यों की सभ्यता से अधिक समुन्नत और विकसित थी। वे नग्नदेवों के आराधक थे। योगमार्गी परम्परा उनमें प्रचलित थी तथा उनके साधु निवृत्तिमार्ग का उपदेश देते थे। विद्वानों की यह भी धारणा है कि रूद्र मूलतः वैदिक देवता न था। जब आर्य और द्रविड़ संस्कृति का सम्मिलन हुआ तो आर्यों की अनेक बातें द्रविडों ने अपना ली। इसी मिलन के फलस्वरूप द्रविड रुद्र को आर्यों ने अपना लिया और उसे अपने आराध्य के रूप में स्वीकार किया। रुद्र को ही आगे चलकर शिव के रूप में माना गया। शिव और ऋषभदेव की एकता के सम्बन्ध में अभी बहुत कम कार्य हुआ है। इन दोनों के विषय में अनेक ऐसी बातें मिलती है, जिनसे पता चलता है कि प्रारम्भ में इन दोनों का रूप एक ही रहा होगा, बाद में काल के प्रभाव से एक ही देव के दो विभिन्न रूप हो गए। परिस्थितियों तथा देश, काल के कारण उनके विषय में प्रचलित मान्यताओं में भी अन्तर आ गया। इन दोनों की एकता के विषय में अनेक तथ्य मिलते हैं। यथा --

ऋषभदेव का चिन्ह बैल माना जाता है। शिव का वाहन भी वृषभ माना जाता है।

ऋषभदेव को मुनि अवस्था में नग्न दिगम्बर वेषधारी स्वीकार किया गया है। शिव भी दिगम्बर वेषधारी या नग्न स्वीकार किए गये हैं।

शिव का निवास स्थान कैलाश माना जाता है। ऋषभदेव का भी तपः स्थल तथा निर्वाण स्थल कैलाश माना गया है।

भगवान् ऋषभदेव का जब कैलाश पर्वत से निर्वाण हुआ तो चक्रवर्ती भरत ने उनके निर्वाण कल्याणक के उपलक्ष्य में कैलाश पर्वत के आकार के गोल घण्टे लटकाए। इन्हीं गोल घण्टों की पूजा बाद में शिवलिङ्ग के रूप में की जाने लगी हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

जैन पुराणों के अनुसार जहाँ से गङ्गा का उद्गम होता है। उस स्थल की ऊंचाई से जहाँ गङ्गा गिरती है, वहीं पास में ही चबूतरे पर जटाजूटों से युक्त ऋषभदेव की प्रतिमा है, जो उनकी तप अवस्था की द्योतक है। हिन्दू पुराणों में शिव की जटाओं पर ही सर्वप्रथम गङ्गा का आना माना जाता है।

भगवान् ऋषभदेव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप त्रिशूल द्वारा कर्मों का नाश किया। शिव भी त्रिशूल युक्त स्वीकार किए गए हैं।

शिव को पशुपति कहा जाता है। ताण्ड्य और शतपथ ब्राह्मण में ऋषभ को पशुपति कहा है - उदाहरणतः -

ऋषभो वा पशूनामधिपतिः ।
ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः ॥

श्री, यश, शान्ति, धन, आत्मा आदि अनेक अर्थों में पशु शब्द का व्यवहार वैदिक साहित्य में हुआ है। अत: पशुपति शब्द का अर्थ हुआ प्रजा, श्री, यश, धन, आत्मा आदि का स्वामी। चूँकि ऋषभ इन सबके स्वामी थे, इसलिए वे पशुपति कहलाये।

महाभारत अनुशासन पर्व में महादेव के नामों में शिव के साथ ऋषभदेव भी गिनाया है। यथा -

ऋषभ त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः। 14/18

ऋग्वेद के रुद्र सूक्त में रुद्र की स्तुति करते समय अनेक स्थलों पर उन्हें वृषभ नाम से सम्बोधित किया गया है। इस वृषभ शब्द के विद्वानों ने व्यापक शक्ति वाला, बैल आदि अनेक अर्थ किए हैं। यहाँ वृषभ शब्द का प्रयोग यथार्थ रूप में रुद्र के पर्यायवाची वृषभदेव के लिए किया गया है। जैन लोग ऋषभदेव को वृषभनाथ के नाम से भी अभिहित करते हैं। इस प्रकार अनेक तथ्यों से ऋषभदेव और शिव की एकता सिद्ध होती है। ये ऋषभ ही जैन धर्म के आदि प्रवर्त्तक हैं।

धम्मपद में कहा गया है -

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ 422

इस पद्य में आए हुए उसभ और वीर शब्द प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तथा चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के लिए प्रयुक्त हुए हैं। 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में भारत के आदिकालीन राजाओं में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत का उल्लेख किया गया है -

प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमच्युति ।
नाभिनो ऋषभपुत्रों वै सिद्धकर्म दृढव्रतः ॥ 390 ॥
तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हैमवते गिरौ ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपिमंजतानतदा जपेत् ॥ 391 ॥

इस प्रकार नाभिराय, ऋषभदेव और भरत के उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होते हैं। इनके चरित्र की आधुनिक ढंग से जानकारी देने वाली पुस्तक की कमी अनेक वर्षों से अनुभव की जा रही थी। सौभाग्य से कुछ वर्ष पूर्व स्व. वैरिष्टर चम्पतराय जैन द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक 'ऋषभदेव द फाउण्डर ऑफ जैनिज्म' हाथ आई। आद्योपान्त पढ़ने के उपरान्त यह धारणा बनी कि यह पुस्तक आधुनिक युग के सर्वथा अनुरूप है, इसका प्रचार होना चाहिए। इसी के फलस्वरूप मैंने इसका हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ किया और अनुवाद समाप्त होने पर अपने मित्र डॉ. राजहंस गुप्ता (प्रवक्ता, अंग्रेजी विभाग, वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर, उ. प्र.) को दे दिया। उन्होंने यथावश्यक संशोधनादि कर अनुवाद के प्रति अपना सन्तोष व्यक्त किया। मैं अंग्रेजी का अधिक ज्ञाता नहीं हूँ, अत: मेरे इस अनुवाद में त्रुटियों के रह जाने की सम्भावना है। सुधी विद्वान् इसे देखकर उचित परामर्श दें, ताकि आवश्यक संशोधन किया जा सके। डॉ. राजहंसगुप्ता ने एक बार इसे देख लेने की कृपा की, एतदर्थ उन्हें बहुत बहुत धन्यवाद।

29-11-1992 ई.

- रमेशचन्द जैन
(जैन मन्दिर के पास
बिजनौर, उ. प्र.)

❑❑❑

जीवन यात्रा की एक झलक
कुछ पूर्वभव

अध्याय १

उठो, समय रहते पाओ
अंतर्वासी शत्रु पर जय,
और करो मानव मन में
निर्मित स्थायी साम्राज्य

डब्ल्यू वाटसन

१. जयवर्मा

असंख्यात वर्ष पूर्व गन्धिला देश में इन्द्रपुरी के राजा श्रीषेण थे। उनकी यथानाम तथा गुण सुन्दरी नामकी रानी थी। उससे श्रीषेण के दो पुत्र उत्पन्न हुए थे - जयवर्मा और श्री वर्मा। श्री वर्मा कनिष्ठ था। माता-पिता अपने छोटे पुत्र के प्रति बहुत स्नेह शील थे और उन्होंने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। जयवर्मा से भिन्न यदि कोई अन्य राजकुमार होता तो इस अप्रिय कार्य के प्रति नाराजगी व्यक्त करता और माता-पिता के अधिकार के विरूद्ध विद्रोह कर देता, परन्तु जयवर्मा भिन्न प्राणी था। उसने अपने जनक के प्रति अपनी नाराजगी अथवा घृणा व्यक्त नहीं की और अपने छोटे भाई को राज सिंहासन से अलग करने का प्रयत्न नहीं किया। केवल इस घटना ने उसे विराग से भर दिया, वह सन्यास की भावना से भर गया और उसने एक जैनमुनि के चरणों में शरण ले ली। उसने संघ में प्रवेश ले लिया और एक योगी के रूप में अधिक गुण अर्जित किए। वे बारह प्रकार के अन्तरङ्ग और बाह्य तप तपने लगे। एक दिन उन्हें सर्प ने डस लिया और वे विष से मृत्यु को प्राप्त हो गए। जय वर्मा ने साँप को मारने का प्रयास नहीं किया और अपने हृदय में कोई नाराजगी नहीं रखी। वह अलकापुरी के राजा अतिबल की महारानी मनोहरा के पुत्र के रूप में पुन: उत्पन्न हुआ। मुनिधर्म पालन करने का फल स्वर्गप्राप्ति है, किन्तु जयवर्मा इसे प्राप्त करने में असफल रहा, क्योंकि उसने मृत्यु के समय के लगभग ही एक विद्याधर की शान-शौकत और वैभव देखा था, उसने अपने अगले जन्म में अपने लिए इसी स्थिति की प्राप्ति की अभिलाषा की।

२. महाबल

अलकापुरी जम्बूद्वीप के दूरवर्ती एक प्रान्त में पहाड़ी पर स्थित थी। सहस्त्रबल एक समय इस स्थान का राजा था। जब वह वृद्ध हुआ तो अपने आत्मकल्याण हेतु उसने संन्यास ग्रहण कर लिया। उसका पुत्र शतबल उसका उत्तराधिकारी हुआ। शतबल ने भी विस्तृत और समृद्ध राज्य का पालन करते हुए अपने पिता का अनुसरण किया और संसार त्याग दिया। उसका पुत्र अतिबल

अलकापुरी का राजा हुआ। उसका विवाह मनोहरा नामक सुन्दर राजकुमारी से हुआ। जयवर्मा के जीव ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है अतिबल और मनोहरा के पुत्र के रूप में जन्म लिया। उन्होंने उसका नाम महाबल रखा।

अतिबल बहुत बड़ा राजा था, किन्तु वृद्धावस्था के चिन्ह प्रकट होते ही उसने कर्म शत्रु से छुटकारा पाने हेतु सन्यास धारण किया। महाबल उसका उत्तराधिकारी हुआ। अपने पूर्वजन्म के सन्यस्त जीवन के फलस्वरूप उसमें सहज रूप में बहुत से महान् गुण थे और वह सब प्रकार की समृद्धियों से घिरा हुआ था और उसे संसार की उत्तम वस्तुयें प्राप्त थीं। उसने सुदीर्घकाल तक जीवन का आनन्द लिया और सभी के द्वारा बहुत आदर पाया।

महाबल केवल एक बड़ा राजा ही नहीं था, वह बहुत बड़ा विचारक भी था। उसके चार मन्त्री थे, जो कि भिन्न-भिन्न मत के थे। ये थे - महामति, जो कि भौतिकवादी था, सम्भिन्नमति जिसकी मान्यता थी कि पदार्थ अवास्तविक हैं विचार मात्र है। शतमति जो शून्यवाद के सिद्धान्त को मानता था अर्थात् वह नैरात्मयवादी था और चौथा स्वयम्बुद्ध था, जो कि जैन था। राजा का कुलधर्म भी जैन था।

किन्तु स्वयम्बुद्ध राजा के विषय में विशेष चिंतित था और वह उसके विचारों को धर्म की ओर मोड़ना चाहता था, ताकि धन का परिग्रह उसकी आत्मा की भावी समृद्धि में रोड़ा न बन सके।

एक दिन राजा बड़ी शान शौकत से अपना जन्म दिन मना रहा था। उसके अधीन समस्त मुखिया उसकी राजसभा में उपस्थित थे। सभा की शोभा अनुपमेय थी। स्वयम्बुद्ध ने अवसर पाकर वार्तालाप को धर्म की ओर अभिमुख करना उचित समझा। उसने कहा कि समस्त शान शौकत और समृद्धि पूर्वजन्म में किए गए पुण्य से प्राप्त होती है। जो व्यक्ति अपना समय भोगविलास में व्यर्थ गंवा देते हैं, उन्हें आगामी भव में दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता है। जो पापी हैं तथा जो अपना मार्ग नहीं सुधारते हैं, उन्हें असह्य दु:ख का सामना करना पड़ता है। हे राजन्! आपने पूर्वजन्म में जो पुण्य अर्जित किया है, आपकी शान शौकत उसी का पुरस्कार है। नीच प्रकृति पर विजय प्राप्त करने हेतु इस विचार से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। बिना तप के आत्मा पुण्य की उपलब्धि नहीं कर सकती।

महामति नामक चार्वाक् मन्त्री ने बीच में ही टोकते हुए कहा - मित्र! ऐसा नहीं है। तपधारण से कायक्लेश करने में कोई भलाई नहीं है। किसके लाभ के लिए कष्ट उठाया जाये? क्या आत्मा के लिए? हूँह! मैं आपसे कहता हूँ कि आत्मा नाम की कोई चीज नहीं है। किसी ने भी इसे देखा नहीं है। आज आप मुझे इसकी सत्ता सिद्ध नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक को अपनी अच्छी योग्यता के अनुसार सुखपूर्वक दिन बिताने चाहिए। जीवन की लौ बुझने के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है।

सम्भिन्नमति ने हस्तक्षेप करते हुए कहा कि मैं आपसे कहता हूँ कि आप जिसे सत् कहते हैं, वे सब विचारों का समूहमात्र हैं। वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है, जिसे आप देखते हैं, वह केवल विचार है। अत: मृत्यु के बाद जीवन जैसी काल्पनिक छाया के पीछे हम क्यों दौड़ें?

मरुमरीचिका के पीछे दौड़कर ऊर्जा का अपव्यय क्यों करें? जो कुछ आपको प्राप्त हुआ है, उसी में प्रसन्न क्यों नहीं रहते, और इसी को ही उत्तम बनाने का प्रयास क्यों नहीं करते?

अब शतमति की बारी थी, वह भी अपने शून्यवाद के सिद्धान्त का प्रचार करने में पीछे नहीं था।'कोई वस्तु नित्य और सदा रहने वाली नहीं है। सभी का लक्ष्य लुप्त हो जाता है। निर्वाण द्वारा शाश्वत जीवन जैसी काल्पनिक वस्तु की खोज में निकलने से क्या लाभ ?'

स्वयंबुद्ध ने वह सब सुना, जो कि उसके तीन साथियों ने उसके मत के विरुद्ध कहा था। जब वे चुप हो गए तो उसने कहा - श्रीमन्, आत्मा की सत्ता संशय और विवाद का विषय नहीं है। मैंने आपके सामने जो स्थापना की है, वह केवल सिद्धान्त ही नहीं है। आपके ही प्रसिद्ध वंश में धर्म के सिद्धान्तों की वास्तविकता को प्रदर्शित करने वाले अनेक उदाहरण हैं ? आपने अपनी गर्दन में जो स्वर्गीय मोतियों का हार पहिन रखा है, उसी की ओर देखिए। क्या उसे एक देव ने आपके एक प्रसिद्ध पूर्वज को नहीं दिया था ? वह देव कौन था ? जिसने इसे मणिमाली को दिया था, यदि वे उनके पिता नहीं थे, जो कि अपने तीसरे भव में स्वर्ग में जन्मे थे। श्रीमान् जी ! मैं इस सुन्दर हार की कहानी कहूँगा, यद्यपि इसे आप निःसन्देह पहले सुन चुके हैं। मणिमाली के पिता के रूप में मनुष्य भव में देव का नाम दण्ड था। वह एक शक्तिशाली राजा था और जीवन के आनन्द में मग्न था। वह इतना मग्न था कि राजसिंहासन उसने अपने पुत्र को दे रखा था और अपने पूरे हृदय में आनन्द प्राप्ति हेतु स्वयं को समर्पित कर दिया था। अन्त में वह मृत्यु को प्राप्त हो गया और पशुता की सर्वाधिक प्रबल प्रकृति के कारण अपने कोषागार में बड़े साँप के रूप में पुनः उत्पन्न हुआ। अपने धन दौलत की ओर दृष्टि पड़ते ही, उसे अपने पूर्वजीवन की याद आ गई। वह दुःख से भर गया, और जिस दुःखी अवस्था में उसने अपने आपको पाया था, उसमें अभिभूत हो गया। लगभग उसी समय मणिमाली ने एक अवधिज्ञानी मुनि से सुना कि उसका पिता उसके अपनी ही महल में एक अत्यन्त निर्दय सर्प के रूप में पुनः जन्मा है और उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो आई है। वह कोषागार में गया, सर्प के सामने शान्तिपूर्वक बैठा और अत्यधिक दुःख तथा खेद व्यक्त किया। उसने उसके सामने वैज्ञानिक धर्म (जैन धर्म) की व्याख्या की, जो कि अकेला कष्ट में सहायक हो सकता है। सर्प ने सावधानी पूर्वक उसका अनुसरण किया और जीवन की विषयभोग तथा इन्द्रिय तृप्ति सम्बन्धी भूल के विषय में पूरी तरह सहमत हो गया। उसने तत्काल अणुव्रत धारण किए तथा भोजनपान का परित्याग करते हुए सल्लेखना धारण कर ली। उचित समय पर उसने सर्प की देह छोड़ दी और सल्लेखना के काल में किए गए कठोर तप के फलस्वरूप देवों में उत्पन्न हुआ। देवों के जन्म से ही अवधिज्ञान होता है। दण्ड के जीव ने यह पाया कि उसके सौभाग्य का कारण उसका पुत्र मणिमाली है, जिसके उपदेशों ने उसका हृदय परिवर्तन कर दिया था। तब वह स्वयं अपने पुत्र को व्यक्तिगत रूप से धन्यवाद देने आया और यह स्वर्गीय हार भेंट किया, जो कि उचित समय पर उत्तराधिकार में आपको प्राप्त हुआ। आपके महान् पूर्वज दण्ड का यह इतिहास है। इसके सुनने के बाद भी क्या आपको इस बात में सन्देह है कि मृत्यु के बाद जीवात्मा का अस्तित्व है। आपके राज्य में कोई भी उपर्युक्त घटना के सत्य की पुष्टि कर देगा, क्योंकि इसे घटित हुए अधिक काल व्यतीत नहीं हुआ है।

फिर भी मैं आपके बड़े दादा सहस्रबल की कहानी कहूँगा। किस प्रकार उन्होंने संसार का परित्याग कर दिया, आपके दादा को अपना राज्य दे दिया और मुनिदीक्षा लेकर सर्वज्ञ हो मोक्ष प्राप्त कर लिया। इसके विषय में आपके राज्य के सभी लोगों को विदित है। उन्होंने आपके बुद्धिमान् दादा को इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने स्वयं संसार त्याग दिया और मुनि हो गए और अवधिज्ञानी मुनि आपसे कहेंगे कि वे मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्ग के किसी ऊंचे विमान में रह रहे

हैं। श्रीमन् ! आपके जीवित पिता स्वयं, जो कि निर्वाण की खोज में रत हैं, वे उसे इसी जन्म में प्राप्त करेंगे। यह सब सही धर्म के मार्ग के अनुसार कठोर आत्म संयम का परिणाम है। दूसरी ओर हम देख चुके हैं कि किस प्रकार पाप कार्य जीवन को अवनति की ओर ले जाता है, जैसा कि दण्ड के मामले में हम देखते हैं कि उन्हें अति भोग लिप्सा के परिणामस्वरूप सर्पयोनि में जन्म लेना पड़ा। अत्यधिक इन्द्रियासक्ति की ओर अपने को छोड़ने का ही यह परिणाम था। राजा अरविन्द की भी एक कथा है, जिसे एक असाध्य रोग ने घेर लिया था, जो कि पशुओं के खून में स्नान करना चाहता था, क्योंकि दुर्योग से उसे उस प्रकार के खून से बीमारी से कुछ राहत मिली थी। तदनुसार उसने अपने पुत्र कुरुबिन्द से पशुओं के खून से भरा एक तालाब खुदवाने को कहा। कुरुबिन्द अच्छे हृदय का था। उसने अपने पिता को प्रसन्न करने के लिए बहुत से निरपराध जीवों की बलि नहीं दी। उसने एक तालाब खुदवाया और उसे लाल पानी से भरवा दिया। अरविन्द को अपने पुत्र द्वारा धोखा दिए जाने की बात ज्ञात हो गई, वह क्रोध में भरकर हाथ में नंगी तलवार ले पुत्र को मारने के लिए दौड़ा। उसके पाप का घड़ा लबालब भर गया था। जल्दीबाजी के कारण वह गिर गया औरअपने ही हथियार से उसके टुकड़े-टुकड़े हो गए। उसकी आत्मा भयानक दु:खदायी परिस्थितियों वाले नरक में उत्पन्न हुई और वह अब भी वहीं है।

स्वयंबुद्ध के कथन के बाद कुछ समय के लिए पूर्ण शान्ति हो गई। जनता अत्यधिक प्रभावित हुई, किन्तु राजा ने इस विषय में कुछ भी नहीं कहा और अपने विचार अपने में सीमित रखे। स्वयंबुद्ध जो कि अपने स्वामी का भला चाहता था, ने अपनी उत्सुकता को ढीला नहीं छोड़ा और किसी मार्ग को खोजने लगा ताकि वह राजा के इस विषय में विचारों की वास्तविक स्थिति को जानने में समर्थ हो सके। एक दिन वह आदित्यगति और अरिंजय नामक दो अवधिज्ञानी साधुओं से मिला और उन्हें अपनी परेशानी सुनाई। साधुओं ने उससे कहा कि राजा की आयु केवल एक मास शेष है, उसकी आत्मा महान् है और दसवें भव में भविष्य में वह तीर्थंकर होगा। उन्होंने उससे कहा कि उसने पिछली रात्रि दो स्वप्न भी देखे हैं। उनका उन्होंने उसके सामने वर्णन किया तथा उसकी व्याख्या भी की। जिन्हें राजा को प्रेषित करने का परामर्श भी उन्होंने दिया। स्वयम्बुद्ध अपने स्वामी से शीघ्र मिला।

उसने कहा स्वामी। मैं आपको एक समाचार देने के लिए आया हूँ, जो कि वास्तव में बड़ा महत्त्वपूर्ण है, किन्तु सबसे पहले मुझे आपको वे दो स्वप्न सुनाने दो, जिन्हें आपने गत रात्रि देखा है। प्रथम स्वप्न में आपने मेरे तीन मन्त्री साथियों द्वारा अपने को गहरे कीचड़ और दलदल में दे गिराया हुआ देखा है तथा मुझे इसमें से आपको निकलने में मदद करते हुए देखा है। दूसरे स्वप्न में आपने एक जलती लपट देखी है, जो कि धीरे-धीरे निस्तेज होती गई, जब तक कि वह नष्ट न हो गई। स्वामिन्। इन स्वप्नों का तात्पर्य प्रथम यह है कि मैंने आपके सामने जिनों को (तीर्थंकर) द्वारा प्रतिपादित योग्य, उत्थान कारी धर्म को बतलाया है, दूसरे शब्दों में यह निर्वाण की प्राप्ति में सहायक होगा। मुझे यह कहने में प्रसन्नता हो रही है कि आप इससे दसवें भव में भारत वर्ष में प्रथम तीर्थंकर होंगे। द्वितीय स्वप्न की व्याख्या मुझे कुछ दु:ख और शोक से अभिभूत कर रही है। इसका तात्पर्य यह है कि आपके वर्तमान शरीर की जीवन ज्योति एक माह में ही बुझ जायगी।

स्वयम्बुद्ध ने तब मुनियों से साक्षात्कार वाली बात राजा को बतलाई। जो कि यह जानकर आश्चर्यान्वित था कि उसके एक मन्त्री को स्वप्न की बात विदित हो गई। राजा अलौकिक ढंग से प्राप्त इस सूचना से बड़ा प्रभावित था। उसने उसी क्षण से यह निश्चय कर लिया कि वह जीवन

की यात्रा को समृद्ध बनाने के लिए सन्यास का मार्ग अपनाएगा। उसने अपने बहुमूल्य उपहार उन्हें दे दिए, जो इनके योग्य थे तथा अपने राज्य की देखभाल का भी प्रबन्ध कर दिया तथा साधुसमाधि की तैयारी कर ली। साधुसमाधि ऐसा अन्त है जिसे वे सब ढूँढते हैं, जो कि वास्तव में महान् होते हैं।

३ ललितांग

जैन धर्म में विश्व के स्वर्ग और नरक के रूप में पृथक् पृथक् क्षेत्र बतलाए गए हैं। न तो एक भोगों का उद्यान है, जिसमें राजसी देव रहते हैं, न हीं दूसरा किसी दैविक तानाशाह का यातनागृह व बन्धनागार है। स्वर्ग में अस्तित्व की दशायें बहुत अधिक सुखद हैं, किन्तु नरक ऐसे क्षेत्रों मे बने हैं, जो कि स्वर्ग से विपरीत हैं।

जो जीव यहाँ पर जैसा कर्म करता है, उसी के अनुरूप वह स्वर्ग अथवा नरक में जन्मता है, किन्तु उसे गर्भगमन की प्रक्रिया से नहीं गुजरना पड़ता। स्वर्ग में जीव उत्पाद शय्या से उठता है, नरक में घट के आकार के छिद्र से गिरता है। एक ही बार में उनकी बढ़ोत्तरी अड़तालीस मिनट में हो जाती है और उनका शरीर अक्षत होता है। तात्पर्य यह कि स्वर्ग और नरक में अकालमृत्यु नहीं होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर सकते हैं। किन्तु शीघ्र ही इसकी पुर्नरचना हो जाती है। केवल दर्द का अनुभव होता है, किन्तु स्थायी अङ्गभङ्ग नहीं होता है तथा अङ्गों को कोई सदैव के लिए नहीं छीन सकता। स्वर्ग के निवासी देवों का शरीर चमकदार और उजला होता है और स्वामी की इच्छा या अन्त:प्रेरणा का अनुकरण करता है। यह स्वेच्छानुसार बड़ा या छोटा, हल्का या भारी हो सकता है। यह अन्तरिक्ष में प्रकाश से भी अधिक तीव्र गति से जा, आ सकता है। स्वर्ग के सभी निवासी जन्म से अवधिज्ञानी होते हैं। यह इस कारण होता है कि उनके शरीर का उपादान हमारे शरीर के समान स्थूल नहीं होता है। यह लोकोत्तर होता है। नरक में परिस्थितियां भिन्न है, किन्तु उनके वर्णन करने से यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान में हमें उस जीव की ओर अभिमुख होना है जो कि सल्लेखना का पालन करने में सलग्न था।

महाबल ने उस समय के महत्त्व को भली भांति समझ लिया था, जिसके कि द्वारा उसकी आत्मा के भविष्य का सुनिर्धारण होना था। उसने उस सारे समय को अपनी नीच प्रकृति के हटाने में लगाया। वह अपने मनोवेग तथा भावानुभूति को शान्त करने तथा राग, द्वेष को हटाने में लगा रहा। उसने पूरे समय स्वयम्बुद्ध के निर्देशानुसार कार्य किया। अब वह उसका आध्यात्मिक सभासद था। पहले जब राजा था, तब वह उसका एहलौकिक सभासद (मन्त्री) था। साधुसमाधि, तीर्थंकरों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओं के रूप में पंचपरमेष्ठी की स्तुति, नमस्कार मन्त्र का उच्चारण तथा शरीर से पृथक्त्व पाने की अनुभूति ने उसके समय को ले लिया, अन्य सब विचार उससे दूर हो गए। उसने तत्काल ठोस भोजन का परित्याग कर दिया तथा धीरे-धीरे अन्य अनेक प्रकार के भोजन को त्याग दिया। इसके बाद उसका पोषक आहार धर्म हो गया। वह पूर्णता की ओर अभिमुख हुआ। सबके प्रति दया तथा करुणा की भावना रखी, विशेषकर उन लोगों के प्रति जो कि स्वयं अपनी देखभाल करने में असमर्थ थे। अब वह सांसारिक वस्तुओं का स्पर्श नहीं करता था। केवल वह उन लिखे हुए ग्रन्थों का स्पर्श करता था जिनमें धर्म की शिक्षायें वर्णित थीं। इस पर भी वह इस बात का अत्यधिक ध्यान रखता था, इनमें छिपे हुए किसी अत्यन्त छोटे जीव को चोट या हानि न पहुँचे। उसने दशधर्म, जैसे क्षमा, मार्दव, आर्जव इत्यादि का अभ्यास किया,

जो कि सही धर्म के लक्षण हैं। उसने मन, वचन, काय के संयम का अभ्यास किया । इसके फलस्वरूप उस एक माह की अवधि में उसमें उत्तरोत्तर अच्छाईयां आती गई। सांसारिक बड़प्पन तथा राजकीय शान शौकत के स्थान में आन्तरिक शान्ति, चारित्र की शक्ति तथा आत्मबल का प्रादुर्भाव हुआ। उसका मन विश्राम कर रहा था । उसने वस्तुओं की प्रकृति को समझा और समझ के परिणामस्वरूप अटूट मानसिक शान्ति को प्राप्त किया ।

इस प्रकार माह के अन्त में उसने अपने आपको सभी का शुभचिंतक पाया, उसके मन में किसी के प्रति घृणा नहीं थी । उसने दृढ़ता से अपने को मोक्ष की भावना में स्थापित किया और उस प्रकार की शान्ति से भर गया, जिसमें कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं कर सकता था ।

जैसे ही सल्लेखना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची तथा जीव और मांसल शरीर नामक पुराने साथी अलग हुए तभी स्वर्ग में उत्पाद शय्या के पर्दे पर कुछ कम्पन्न की सूचना प्राप्त हुई । तुरन्त ही देवों ने स्वर्गीय सिंहासन घेर लिया और सिंहासन के चारों ओर उचित रीति से खड़े हो गए। स्वर्ग को गौरवान्वित करने हेतु एक देव के आने की संभावना थी ।

महान् आत्मा के शरीर से विदा होने तथा चेतना के पुन: लौटने में एक क्षण ही लगा होगा। महाबल ने अब स्वर्ग के क्षेत्र के लोकोत्तर पदार्थ से मूर्त रूप धारण कर लिया । उसकी आखें खुलीं, किन्तु तुरन्त बन्द हो गई। देव जीवन की भव्यता उसके चेतना के लिए अत्यधिक थी । उसे आश्चर्य हुआ कि वह कहां है ? शायद यह कोई स्वप्न था, जिसे उसने देखा था, किन्तु कुछ भी रहा हो, यह बहुत मोहित करने वाला था । उसे सोचने का बहुत कम समय मिला या कुछ भी नहीं मिला। संगठनात्मक शक्तियां अब भी प्रचण्ड रूप से कार्य कर रही थीं "आह, मुझे अब स्मरण है," उसने अपने आपसे कहा, "मैं महाबल हूँ ।" यह अवधिज्ञान की क्षमता थी, जो कि इस अन्तराल में परिपक्व हो गई थी । उसने अपनी आँखें खोलीं, उठ बैठा, और स्वर्ग के चमकपूर्ण दृश्यों, देवों तथा देवाङ्गनाओं के आदर-सत्कार से पराभूत हो गया ।

महाबल अब ललिताङ्ग कहलाया, जिसका अर्थ सुन्दर अङ्गों वाला होता है । वह उठ गया और स्मरण करता रहा कि उसका सौभाग्योदय धर्म का अभ्यास करने के फलस्वरूप हुआ है । वह देव लोक के मन्दिरों में तीर्थंकरों की पूजा हेतु गया । अनन्तर वह लौटा और देव-जीवन को व्यवस्थित किया । यह जीवन निरन्तर सुख के भोजन के तुल्य होता है ।

देवों को किसी प्रकार का श्रम या उद्योग नहीं करना पड़ता । उन्हें अपने जीवन यापन के लिए घोर परिश्रम नहीं करना पड़ता । स्वर्गीय देवों को जिस भोजन की आवश्यकता होती है, वह मनुष्यों के समान नहीं होता है । निचले स्वर्गों में यह एक हजार वर्ष में एक बार लिया जाता है। उस भोजन की तादाद पृथ्वी की गौरैया के उदरपूर्ति के बराबर होती है । देव जीवन के अनेक आश्चर्यों में एक आश्चर्य यह है कि निचले स्वर्ग के देव पन्द्रहदिन में एक बार श्वांस लेते हैं । ऊपर के स्वर्गों में भोजन तथा श्वास का अन्तराल आनुपातिक रूप में बढ़ता जाता है ।

जो स्वयं को इस प्रकार अवस्थित पाते हैं कि उनके पास करने को कुछ भी नहीं होता, वे केवल आमोद-प्रमोद में समय बिताते हैं । स्वर्ग में करने को कुछ सार्वजनिक कार्य भी नहीं है, क्योंकि जनसाधारण को वहां कोई आवश्यकता नहीं है । परेशानी केवल मानसिक है । दूसरे देव की अधिक मेधा तथा सौन्दर्य की अतिशयता के कारण तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों से उनमें आपस में ईर्ष्या होती है, किन्तु इस प्रकार की मुसीबत कोई कम नहीं कर सकता ।

नीचे के स्वर्गों में दोनों लिङ्ग हैं, यद्यपि देवाङ्गनायें गर्भ धारण नहीं करती हैं या बच्चों को जन्म नहीं देती है । उनके विवाह होते हैं और अपना समय सुख पूर्वक व्यतीत करते हैं । थोड़ा बहुत भोजन जो आश्यक होता है, किन्हीं विशेष प्रकार के वृक्षों से उपलब्ध हो जाता है । इन वृक्षों के उगने या देखभाल करने की आवश्यकता नहीं रहती।

देवों की अपेक्षा स्वर्ग में देवाङ्गनायें बहुसंख्यक हैं । यह हो सकता है कि संसार में स्त्रियां आत्मसंयम तथा तप का पालन मनुष्यों की अपेक्षा अत्यधिक संख्या में करती हैं अत: वे अधिक संख्या में स्वर्ग पहुँचती हैं । जो कुछ भी हो, निचले स्वर्गों में देवों की अपेक्षा देवाङ्गनाओं की संख्या अधिक है ।

दूसरे स्वर्ग में महाबल की भी चार हजार देवाङ्गनायें थीं । किन्तु उनकी अत्यधिक कृपापात्र देवाङ्गना स्वयम्प्रभा थी जो भावात्मक रूप से उनकी भक्त थी । वह बहुत प्रिय देवी थी । वे सदैव साथ में रहते थे और एक दूसरे के साहचर्य में अत्यधिक आनन्द का अनुभव करते थे । वे स्वर्ग के स्थानों पर प्राय: साथ-साथ जाते थे और पहाड़ी तथा घाटियों में साथ-साथ भ्रमण करते थे एवं प्राकृतिक सौन्दर्य में सांस लेते थे । उस सौन्दर्य को मनुष्य ने न तो आंखों से देखा है और न कानों से सुना है । स्वर्ग में स्थित देवालयों में भगवान् अर्हन्तदेव (तीर्थंकर) की वे साथ-साथ पूजा करते थे । इस प्रकार उन्होंने देवजीवन के असंख्यात वर्ष एक दूसरे के साथ व्यतीत किए, और अनायास ही उनके आगामी भविष्य भी परस्पर जुड़ गये ।

क्रूर प्रकृति का यह नियम है कि प्रत्येक वस्तु जो अविभाज्य एक तत्व नहीं है शीघ्र या देर मे विघटित (नष्ट) हो जाती है, केवल द्रव्य अवशिष्ट रहता है । देवों की देह भी एक मिश्रण है और इस कारण नष्ट होने तथा विघटित होने से मुक्त नहीं है। पुद्‌गल और आत्मा के संयोग में आत्मा ही अमर है । देवों का शरीर किसी बाह्य कारण से विनाश को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु यह नित्य नहीं है, और वे शक्तियां जो कि शरीर और आत्मा के मेल के लिए उत्तरदायी हैं । भीतर से अपना कार्य करना बन्द कर देती हैं तो देवों का शरीर भी अवश्य ही नष्ट हो जाता है ।

जब आयु के छ: माह बाकी रह जाते हैं, तब देवों के शरीर में उनके अवसान के लक्षण प्रकट होने लगते हैं । सबसे पहले उनके गले की माला फीकी पड़ने लगती है । इसके अनन्तर शरीर की चमक दमक पर असर पड़ता है और यह कम होती जाती है । एस सुबह ललिताङ्ग को स्वयं अपने शरीर पर मुरझाने वाले चिन्ह ज्ञात हुए । उनके अर्थ के संबंध में कोई संदेह नहीं किया जा सकता था । वे उसके अन्त की सूचना दे रहे थे । वह उत्साहहीनता से भर गया । इस विचार ने कि उसका आमोद-प्रमोद छ: माह बाद नष्ट हो जाएगा, उसे दु:खी कर दिया । स्वयंप्रभा तथा दूसरे देवों ने उसे सान्त्वना दी । सोलहवें स्वर्ग का अधिपति, जो कि उसका मित्र था, उसे अपने क्षेत्र में ले आया, जहां ललिताङ्ग ने अपना अन्तिम समय जिनालयों में पूजा करते हुए बिताए।

स्वयंप्रभा को ललिताङ्ग की मृत्यु से बहुत अधिक दु:ख हुआ । किन्तु उसे यह जानकर कुछ राहत मिली कि छह माह बाद उसका स्वयं का अन्त आने वाला है, अत: वह शीघ्र ही क्रूर भाग्य को सहने के लिए तैयार हो गई । उसने एक जिनालय में जिनप्रतिमाओं की पूजा में अपने सारे माह व्यतीत किए । इस प्रकार उसने अपने आप को देवायु के आगामी अन्त के लिए तैयार कर लिया ।

४ वज्रजंघ

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती नामक देश था। इसमें उत्पलखेटक और पुण्डरी-किणी नामक दो महत्त्वपूर्ण राज्य थे। राजा वज्रदन्त 'पुण्डरीकिणी' नामक राज्य में राज करता था। उसका बहनाई बज्रबाहु उत्पलखेटक राज्य का राजा था। देवायु के समाप्त होने पर ललितङ्ग बज्रबाहु के उसकी रानी बसुन्धरा से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। बज्रबाहु ने अपने पुत्र का नाम बज्रजंघ रखा। नाम सर्वथा उचित था, क्योंकि बज्रजंघ की जङ्घायें सर्वोत्कृष्ट रूप में सुन्दर और सुदृढ़ थीं। बज्रबाहु की एक पुत्री भी थी, जिसका नाम उसने अनुन्धरी रखा था।

स्वयंप्रभा का जीव स्वर्ग से अवतीर्ण होकर पुष्कलावती में जन्मा। वह राजा बज्रदन्त की पुत्री हुई। बज्रदन्त ने उसका नाम श्रीमती रखा। उसका एक भाई अमिततेज था।

श्रीमती बहुत सुन्दर कन्या थी। उसके मुख की चमक पूर्णचन्द्रमा के समान थी। उसके रंग ढंग बहुत आकर्षक थे। उसे अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई थी। वह अत्यधिक सुन्दर युवती के रूप में वृद्धि को प्राप्त हुई। वह अपने समय के सबसे बड़े राजा की पुत्री थी।

प्राचीन काल में उन दिनों लोग अपने बच्चों का विवाह बाल्य अवस्था में नहीं करते थे। परिस्थिति के दबाव के कारण ऐसा चलन हुआ, जबकि अनार्य आए और उन्होंने अपने को तथा अपने वधगृहों तथा खूनी बलिवेदियों को सब स्थानों पर स्थापित कर लिया। मनुष्यों की शक्ति में वृद्धि हेतु यह चाहा गया कि कोई भी समर्थ स्त्री अनुत्पादिका न रहे। उस समय लोगों ने कहा यदि आपकी कन्या रजस्वला होने के समय अविवाहित रहेगी तो तुम्हें अपने कुटुम्बियों और बान्धवें के साथ नरक जाना पड़ेगा। यह अक्षरशः सत्य था, क्योंकि युद्ध करने वाले व्यक्तियों का पद भरा नहीं जाता और लोग युद्ध बन्दी बनाकर दास बना लिए जाते तो इसके अतिरिक्त क्या आशा की जा सकती थी ? उन्हें अपना धर्म छोड़ने को बाध्य किया जाता, उन पर अपने स्वामी के भोजन हेतु निरीह प्राणियों की हत्या करने तथा स्वयं भी मांस खाने हेतु दबाव डाला जाता, कुछ बुद्धिमान् व्यक्तियों ने इस प्रकार के भयङ्कर परिवर्तन का केवल एक भी परिणाम देखा कि योद्धाओं के उत्पादन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग न करने वाले नरक को प्राप्त होंगे। उन्होंने यह शास्त्रीय विधान कर दिया कि प्रत्येक लड़की को रजस्वला होने से पूर्व विवाहित होना अनिवार्य है। किन्तु ऐसा शुद्ध आर्य संस्कृति के दिनों में नहीं था।

श्रीमती की रमणीयता और यौवन वृद्धि को प्राप्त होता गया। किसी ने उसके विवाह के विषय में सोचा भी नहीं, जब तक कि उसमें पूर्ण यौवनवती होने के लक्षण प्रकट नहीं होने लगे। एक सुबह जैसे ही वह सोकर उठी, उसने बहुत अधिक कोलाहल सुना। साज और आवाज परस्पर मिल रहे थे। उसने कारण की खोज की और उसे ज्ञात हुआ कि रात्रि में श्री यशोधर जी मुनि को केवलज्ञान हो गया है और देव स्वर्गलोक से पूज्य की पूजा करने आ रहे हैं। यह उनके जयकारे की आवाज थी, जो स्वर्गीय संगीत से मिल रही थी। इससे वह कोलाहल हो रहा था, जिसे उसने सुना था। श्रीमती ने तब स्वयं देवों को स्वयं नीचे, ऊपर आते, जाते देखा। उस दृश्य ने उसे गहराई से उद्बुद्ध कर दिया। इसने उसके हृदय में गहराई से विराजमान तारों को छू दिया। उसे स्वयंप्रभा के रूप में अपने पूर्व जीवन की स्मृति हो आयी। उसने ललिताङ्ग और उसके साथ भोगे गए भोगों का स्मरण किया। इस पूर्व स्मृति को बर्दास्त करना, उसकी सामर्थ्य से बाहर था, वह मूर्छित हो गई। जब उसे होश आया तो वह दुःख से इतनी अधिक पराभूत थी कि उसके लिए किसी अन्य

से इसकी व्याख्या करना सम्भव नहीं था। इस कारण वह शान्त रही, किन्तु उसने अपने मन में यह निस्वय कर लिया कि वह ललिताङ्ग कहां उत्पन्न हुआ है, इस बात का पता लगाएगी और उसके अतिरिक्त किसी अन्य से विवाह नहीं करेगी।

उसमें जो परिवर्तन आया था, उसके विषय में उसके माता-पिता ने जान लिया था, किन्तु उसने इसका कारण नहीं कहा। उसकी इस दुर्लभ योजना के साथ किसी सहानुभूति की आशा की जा सकती थी अथवा उसके निर्णय को कौन प्रोत्साहित कर सकता था ? किन्तु स्वयंप्रभा सामान्य आत्मा नहीं थी। उसने अनुभव किया कि उसका उसके स्वामी देव के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उससे इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि उसका जन्म उससे अधिक दूर नहीं हुआ होगा। उसने द्विगुणित रूप में यह निश्चय कर लिया कि वह अपने पूर्व जीवन के प्रेमी की खोज में कोई कसर उठा नहीं रखेगी।

उसके पिता जी ने उसकी उदासी में किसी प्रकार का परिवर्तन न देख उसे एक धाय दे दी, जो कि अत्यधिक प्रतिभाशाली थी। इस नई धाय ने स्वयं को स्वयंप्रभा का सच्चा साथी सिद्ध कर दिया और स्वयंप्रभा की योजना में पूरे मन से प्रविष्ट हो गई।

उसके पिता के राज्य में महापूत नामका एक चैत्यालय था। श्रीमती की धाय ने श्रीमती द्वारा बनाई हुई एक तसवीर ली और मन्दिर की चित्रवी थी की दीवाल में उसे लगा दिया। इसमें उसके देव जीवन के चित्रों की श्रृंखला थी, जिसे श्रीमती ने पर्दे पर चित्रित किया था। दिन में वह तसवीर दीवाल पर टंगी रहती और उसके साथ बगल में धाय भी रहती, ताकि वह दर्शकों की टिप्पणियों को ग्रहण कर सके।

उस चित्र की ओर कुछ ध्यान दिए बिना ही बहुत सारे लोग चले गए। कुछ ने कलाकार के मूर्खतापूर्ण विचारों के चित्रण की हँसी की। एक बार दो मनुष्यों ने सोचा कि चित्र में देवजीवन का अङ्कन है। उन्होंने उसके प्रदर्शन के अभीष्ट का अनुमान भी लगाया, किन्तु प्रिय कलाकार ने जो रूपरेखा बनाई थी, उसका परीक्षण करने में असमर्थ रहे और धाय के सामने हतोत्साहित होकर चले गए।

अन्त में खोज पुरस्कृत हुई। सुन्दर राजकुमार बज्रजंघ जिनों की वन्दना के लिए मन्दिर में आया और पूजा के बाद चित्रवीथी में चहलकदमी करने लगा। वह चित्र की ओर आकर्षित हुआ और जैसे ही दृष्य के विस्तारों की ओर उसने देखा, तभी उसके मन में रहस्यात्मक तथा अकथनीय आन्दोलन छिड़ गया। तब तक वह स्वयंप्रभा के विषय में कुछ नहीं जानता था और यह तथ्य भी नहीं जानता था कि अपने पिछले जीवन में दूसरे स्वर्ग में देव रहा था फिर भी वह यथास्थान बंधा सा रह गया। उसका ध्यान उन फलकों पर केन्द्रित रहा, विशेषकर उन पर जो उसके व स्वयंप्रभा के साथ-साथ व्यतीत स्वर्गय जीवन का चित्राङ्कन करते थे।

ब्रजजंघ की दिलचस्पी और मोह प्रतिक्षण चित्र के प्रति बढ़ने लगा। वह अपने आपको भूल गया, एक मूर्ति के समान गतिहीन और निष्क्रिम खड़ा रहा। यकायक उसकी आंखों में प्रकाश की एक किरण आई।

उसकी स्मृति में पूर्वभव का ज्ञान हो गया। उसने अपनी आत्मा में उत्पन्न होने वाली घनिष्ठता का अनुभव किया। शीघ्र ही वह बेहोश हो गया, फर्श पर अचेत हो गिर पड़ा और देखभाल करने वाली (सजग) धाय ने उसे हाथों पर उठा लिया।

इसी समय राजा की आयुधशाला में चक्र प्रकट हुआ । सबसे पहले वह उन मुनि की पूजा हेतु गया, जिन्हें तपश्चरण के फलस्वरूप कैवल्य की उपलब्धि हो गयी थी। उसका सौभाग्य वहाँ उसकी प्रतीक्षा कर रहा था क्योंकि अरहन्त दर्शन करते ही उसका मन इतना शुद्ध हुआ कि उस स्थान पर उसे केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई ।

अनन्तर वह चक्र दर्शन हेतु आगे बढ़ा । चक्र स्वयं ही उसके पूर्व जन्म के पुण्यकार्यों के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था । चक्र एक दैवीय आयुध है, जो कि बहुत बड़े राजाओं की चुम्बकीय शक्ति से आकर्षित होता है । इसका रखने वाला चक्रवर्ती के रूप में जाना जाता है (चक्रवर्ती - चक्र का स्वामी या चलाने वाला) । वर्तमान अवसर्पिणी में भारत में केवल बारह चक्रवर्ती हुए। जो कि अकथनीय करोड़ों वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था । चक्र को अपने साथ लेकर चक्रवर्ती ने विश्वविजय करना आरम्भ कर दिया। अपनी कन्या को नई धाय के साथ कर दिया । वह उसी दिन अपने घर लौटा, जब कि श्रीमती की धाय ने बज्रजंघ की महापूत चैत्यालय में खोज की थी । ललिताङ्ग देव का ही पुनर्जन्म बज्रजंघ था ।

अपने अवधिज्ञान की सामर्थ्य से उसने स्वयं ही अपनी पुत्री और भानजे के मध्य पूर्वजन्म में प्रेम के यथार्थ तथ्य को (चक्रवर्ती ने) भी जान लिया था । घर पाकर उसने उसे प्यार किया और उससे कहा कि उसने धाय द्वारा ललिताङ्ग की खोज की जानकारी प्राप्त कर ली है और उसे आश्वासन दिया कि उसी दिन वह अपनी प्रिय स्वामिनि को यह सुसमाचार सुनायेगी ।

घटनाओं ने स्वयं वही रूप ग्रहण किया, जैसी कि चक्रवर्ती ने भविष्यवाणी की थी । श्रीमती अत्यधिक प्रसन्न थी और जो उसके प्रति भक्ति रखते थे, उनके मन से उदासी का धुंधलका छूट गया । उचित समय पर श्रीमती और बज्रजंघ का विवाह पुण्डरीकिणी में बड़ी शान के साथ प्रस्तावित और सम्पन्न हुआ । उत्सव मनाया गया । उसी समय अनुन्धरी और अमिततेज का विवाह संघटति हुआ । महिनों और वर्षों तक राज्य में घर-घर श्रीमती और बज्रजंघ की कथा सुनाई जाती रही।

स्वर्ग के प्रेमी और पुन: संघटित प्रेमी श्रीमती और बज्रजंघ एक दूसरे के प्रति समर्पित थे और अपना अधिकांश समय साथ-साथ जीवन को आनन्द लेने तथा अर्हन्त भगवान् की भक्ति में बिताते थे । अरहन्त भगवान् को वे अपने सौभाग्य का स्रोत मानते थे । श्रीमती के अनेक बच्चे हुए । वे सभी बुद्धिमान् और स्वस्थ थे ।

उस समय सभी बड़े लोगों में यह प्रथा थी कि तपश्चरण हेतु वे संसार त्याग कर देते थे तथा अपने भाग्य पर नियन्त्रण रखते थे । समय पूर्ण होने पर बज्रजंघ के पिता राजा बज्रबाहु ने अपने पिता के सिंहासन पर बज्रजंघ को बैठा दिया और यमधर मुनि से दीक्षित हो गए । बाद में दूसरे राजा को श्रीगणधर मुनि ने दीक्षा दे दी । उन्होंने अपना राज्य संसार त्याग से पूर्व अपने अमित तेज आदि पुत्रों को देना चाहा, जो कि क्रमश: उत्पन्न हुए थे, किन्तु उन्होंने संसार रूपी कीचड़ को ढ़ोने से मना कर दिया, जिसे कि अन्त में छोड़ना ही पड़ता है । वे सभी अपने पिता के साथ गृहस्थ जीवन से मुक्त हुए। अन्त में उन्होंने अपने पौत्र पुण्डरीक को राजसिंहासन पर बैठा दिया और साधु जीवन अपना लिया । पर पुण्डरीक अभी बहुत छोटा था उसकी दादी लक्ष्मीमती तथा माता अनुन्धरी, जो कि बज्रजंघ की बहिन थी, ने बच्चे की देखभाल हेतु बज्रजंघ के पास समाचार प्रेषक भेजे । बज्रजंघ और श्रीमती इन महिलाओं की इच्छापूर्ति हेतु पुण्डरीकिणी आए। बज्रजंघ ने राजकार्यों के सुप्रबन्ध का इन्तजाम कर दिया, तब वह अपनी राजधानी को वापिस लौटा ।

जब बज्रजंघ अपनी रानी के साथ पुण्डरीकिणी को जा रहा था, तब वह एक दिन एक वन में रूका और उसे दो जैन मुनियों को आहार देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जो कि उस रास्ते में आए थे। मुनि अलौकिक ज्ञान से मुक्त थे। बज्रजंघ के विश्वासपात्र व्यक्तियों में उसका मन्त्री मतिवर, सेना पति अकम्पन, कुल पुरोहित आनन्द तथा कोट्याधीश धनमित्र थे। इनकी राजा के साथ घनिष्टता थी और ये उस समय उपस्थित थे। जब कि राजा मुनियों को आहारदान दे रहा था। इसी समय उपस्थित समुदाय को एक उल्लेखनीय बात पता चली। पशु-राज्य के चार सदस्य एक बन्दर, एक सुअर, एक सिंह तथा एक नेवला वहाँ पर भयरहित होकर इकट्ठे हो गए और मुनि का आहार देखते हुए बैठे रहे। प्रत्यक्ष रूप से उन्हें सन्तोष हो रहा था और वे एक दूसरे से छेड़खानी नहीं कर रहे थे।

शास्त्रोक्त विधि से आहार ग्रहण करने के बाद मुनिवर, जिनके नाम दमधर और सागरसेन थे, ने धर्मोपदेश देकर उपस्थित जनसमुदाय को तृप्त किया। तब बज्रजंघ जिन्हें उन मुनियों के आन्तरिक ज्ञान का पता था, उनके सामने हाथ जोड़कर बैठा और अपने तथा श्रीमती के पूर्वभवों का वर्णन करने की प्रार्थना की। मुनियों ने बज्रजंघ के पूर्वभवों का जय वर्मा से प्रारम्भ कर कथन किया। इसके बाद उन्होंने श्रीमती के पूर्वभवों का वर्णन किया। वह अपने पूर्वभवों में से एक में वैश्य लड़की थी। उसका नाम निर्नामा था। वह निर्धन थी, और गन्दगी से रहती थी। एक बार वह पिहितास्त्रव नामक ज्ञानी मुनि से मिली और उसने अपने दुर्भाग्य के कारण के विषय में पूछा। उससे कहा गया कि उसने अपने पूर्वभव में, जब वह धन श्री थी, एक मुनि का अपमान किया था। एक बार उसने समाधिगुप्त मुनिराज के सामने कुत्ते का मांस फेका था, किन्तु तत्काल ही उसे अपने किए पर पछतावा हुआ, क्योंकि मुनि ने सज्जनता पूर्वक उसे चेतावनी दे दी थी। उन्होंने यह भी बतलाया था कि किस प्रकार विशेष उपवास का वह अपने पापों को दूर कर सकती है। उसने उपवासों को अच्छी तरह से किया और निर्नामा हुई और अपनी साधुता के फलस्वरूप स्वयंप्रभा के रूप में उसका पुनर्जन्म हुआ।

बज्रजंघ ने अपने कुछ मित्रों और साथियों के पूर्वभवों के विषय में पूछा और अन्त में उनमें से एक मुनि से उन चार पशुओं के पूर्व भवों के विषय में पूछा जो कि मनुष्यों के मध्य शान्त, निर्भय और बिना छेड़खानी किए बैठे हुए थे। मुनि ने कहा कि सिंह अपने पूर्वजन्म में उग्रसेन नाम का वैश्य था। वह अत्यंत क्रोधी स्वभाव का था वह क्रोध के कारण आसानी से उत्तेजित हो जाता था और तब प्रचण्ड रूप से भड़क उठता था। एक बार उसने बलपूर्वक राजा के भण्डार से कुछ वस्तुयें ग्रहण कर लीं। वह पकड़ गया और उसके साथ दुर्व्यवहार किया गया। उस समय उस पर जो मार पड़ी, उसके परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु हो गयी और वह व्याघ्र हुआ। बन्दर अपने एक पूर्वभव में नागदत्त था। वह बड़ा ठग था और धोखे से लोगों को ठगा करता था। माता द्वारा अपनी छोटी बहन के विवाह के लिए खरीदे गये सामान को भी नागदत्त ने ठगना चाहा था, किन्तु इस कार्य में वह असफल रहा। अपने चरित्र के अध: पतन के परिणामस्वरूप मरकर वह बन्दर हुआ। शूकर एक राजा का पुत्र था। उसका नाम हरिवाहन था। वह बड़ा अभिमानी था और अपने माता-पिता के प्रति भी अनादर का भाव प्रदर्शित करता था। एक दिन वह माता-पिता का अनुशासन नहीं मानकर दौड़ा जा रहा था कि पत्थर के खम्भे से टकराकर उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी। अभिमान के कारण वह मनुष्यगति से पतित होकर शूकर हो गया। नेवला एक लोभी था। उसका उपनाम लोलुप था।

वह एक छोटे स्तर पर खाद्य पदार्थ बेचता था । एक दिन राजा का मकान बना रहे कुछ मजदूरों को रोटी आदि देकर फुसलाकर उसने मलवें में पड़ी कुछ ईंटें चुपके से अपने घर में डलवा लीं । उन ईंटों में कुछ के अन्दर सोने की छड़ें निकलीं । मजदूर उसके घर ईंटें ले आए । यह खजाना सम्भवत: उस व्यक्ति का था, जिसने उस मूल भवन की रचना की थी और जिसे मजदूरों ने ढहा दिया था । लोलुप ने स्वयं सोना रख लिया। और वह प्रतिदिन बिना किसी की जानकारी से मजदूरों से कुछ ईंटें मंगवाने लगा । इसके उपलक्ष्य में वह मनुष्यों को सस्ता भोजन देता । एक दिन एक घटना घटित हुई कि वह अपनी पुत्री के गांव गया और अपने पुत्र से मजदूरों से और अधिक ईंटें मंगवाने का आदेश देता गया । किन्तु पुत्र ने ऐसा नहीं किया । रात्रि में जब लोलुप वापिस आया, वह यह जानकर क्रोधित हुआ कि उसके पुत्र ने अधिक ईंटें नहीं मंगवायीं । वह क्रोध के आवेश तथा स्वर्ण के लोभ में अन्धा हो गया । उसने पुत्र पर प्रहार कर उसे मार डाला । तब उसने कुल्हाड़ी से अपने पैरों पर भी प्रहार किया, क्योंकि पैर यदि उसे पुत्री के घर न ले जाते तो वह अधिक ईंटों का संग्रह करने में असमर्थ न रहता। अपनी मृत्यु के पश्चात् वह नेवला हुआ ।

मुनि महाराज ने इनके जीवन के विषय में सुनाते हुए कहा कि जैन मुनि का शास्त्रोक्त विधि से आहार दान देखकर उन्हें अपने पूर्वजन्मों की याद आ गई और यही कारण है कि वे निर्भय होकर और बिना किसी से छेड़छाड़ किए बैठे हुए हैं । मुनिराज को श्रद्धापूर्वक दिए गए आहार को देखकर उन्हें इतनी अधिक आनन्दानुभूति हो रही है कि जैसे उन्होंने स्वयं दिया हो, अत: वे अपने अगले भव में अत्यधिक समृद्ध और शुभ स्थितियां प्राप्त करेंगे ।

उत्पलखेटक वापिस आकर बज्रजंघ और श्रीमती पुन: अपने पूर्वजन्म के शुभकर्मों का फल भोगने लगे । वे प्रसन्न थे और वही कार्य करते थे । जिससे दूसरे प्रसन्न हों।

प्रत्येक वस्तु जिसका आदि है, उसका शीघ्र या बाद में अन्त हो जाता है । निर्वाण की स्थिति इससे भिन्न है । निर्वाण का आदि है, किन्तु अन्त नहीं । बज्रजंघ तथा श्रीमती के सुदीर्घ तथा अनवरत सुखी जीवन का भी अन्त आया ।

यह पूर्णत: अप्रत्याशित रूप में आया । एक बार सेवक शयनकक्ष के रोशनदान खोलना भूल गए । शयनागार को सुगन्धित बनाने और केशों का संस्कार करने के लिए उस भवन में अनेक प्रकार का सुगन्धित धूप रात भर जलता रहा । सोता हुआ जोड़ा एक दूसरे के आलिङ्गन में बद्ध होकर गहरी नींद सो गया । उस रात्रि की नींद से वे पुन: इस पृथ्वी पर नहीं जागे ।

५. भोगभूमिज

बज्रजंघ और श्रीमती ने अब भोगभूमि में जन्म लिया । भोगभूमि शब्द भोग और भूमि दो शब्दों से मिलकर बना है । यह क्षेत्र स्वर्ग के समान होता है, जहां के निवासियों को अपनी-जीविका के लिए किसी प्रकार का परिश्रम नहीं करना पड़ता है । वे क्षेत्र जहां मनुष्य को अपनी जीविका के लिए कर्म करना पड़ता है, कर्मभूमि कहलाते हैं । केवल वे जो पुण्यकर्म करते हैं, भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं । उसमें कोई सन्देह नहीं कि सही भोगभूमि केवल स्वर्ग हैं, जहाँ पर जीवन की दशायें बड़ी सुखकर हैं, जिससे इन्द्रियों को परमतृप्ति प्राप्त होती है । भोगभूमि का स्थान स्वर्ग के बाद आता है । भोगभूमि में मनुष्य जिस सुख का अनुभव करते हैं, वे हमारी पृथ्वी से बहुत

अधिक हैं। भोगभूमिज के जन्म की प्रक्रिया इस रूप में भौतिक, सांसारिक, कायिक हैं कि उसे भी गर्भधारण से गुजरना पड़ता है। तथापि यह मानव जन्म की समान्य प्रक्रिया से इस प्रकार भिन्न है कि भोगभूमि में जन्मा हुआ व्यक्ति जन्म से लेकर उनचास दिन में किशोर हो जाता है माता-पिता को वहां सन्तान का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाता है। वे बच्चों के उत्पन्न होने के क्षण ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मां छींक आने से मर जाती है और पिता जंभाई लेने से। भोगभूमिज जुड़वे उत्पन्न होते हैं - उनमें से एक लड़का और दूसरी लड़की होती है। बड़े होने पर वे पति-पत्नी हो जाते हैं। वे अपने जीवन का कोई भी भाग सोने में बर्बाद नहीं करते हैं। उन्हें पसीना नहीं आता है। उनके शरीर में मल नहीं बनता है। उनके नेत्र सदैव खुले रहते हैं और वे 3 दिन बाद आहार ग्रहण करते हैं। इसकी मात्रा एक आलू बुखारे के बराबर या कहीं कहीं इससे कम होती है। मादा भोगभूमिज केवल अपने जीवन के अन्त में एक बार गर्भ धारण करती है।

भोगभूमि में वृक्षों के समान दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं। इससे भोगभूमि के निवासी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इन वृक्षों से भोजन, पान, वस्त्र (उनकी रेशमी छाल से), तश्तरी, प्याले, आभूषण, (फूलों के प्रसाधन), पुष्प गन्ध, संगीतवाद्य (वीणा इत्यादि) आदि सभी वस्तुओं की प्रचुरता से पूर्ति होती है। वहां ऐसे भी वृक्ष होते हैं जो अत्यधिक चमकते हैं। इनकी चमक इतनी तीव्र होती है कि सूर्य और चन्द्रमा भी चमकें तो वे भी निष्प्रभ हो जाँय। सौभाग्यशाली निवासियों के उपभोग के लिए ये वृक्ष निवास और तम्बू भी प्रदान करते हैं। सम्भवत: उनके पोले तने से कमरों का कार्य सम्पन्न होता था। यदि ये एक साथ कुछ संख्या में उगते होंगे तो वे केन्द्र में एक अहाते का निर्माण करते होंगे। पोली देवकुलिकाओं की व्यवस्थित पंक्तियां स्वभावत: एक महल के कमरों की पंक्तियों के समान दिखाई देती होंगी।

भोगभूमि में परिग्रह या वस्तुओं के प्रति ममत्वभाव नहीं है। प्रकृति की उदारता व प्रचुरता के बीच इनकी आवश्यकता ही नहीं है। भोगभूमिज लोग कोई अपराध नहीं करते हैं। अपराध के तीन प्रमुख कारण स्त्री, भूमि तथा स्वर्ण का वहाँ अभाव है। अन्तिम दो की वहां इतनी प्रचुरता है कि किसी को भी उसके स्वामित्व हेतु परेशान होने की आवश्यकता नहीं होती है। वहां स्त्री अपराध के प्रति सुब्ध नहीं करती, क्योंकि युगलों का जन्मपूर्व एक दूसरे के प्रति इतना लगाव होता है कि प्रत्येक प्रकार की नैतिक असावधानी वहीं नहीं होती है। भोगभूमिज निश्चित रूप से मेधावी और गुणी हैं। वे गीत और नृत्य कलाविज्ञ हैं तथा दूसरे कार्य सुसम्पन्न करने में निपुण हैं।

बज्रजंघ तथा श्रीमती युगल के रूप में भोगभूमि, जिसका नाम उतरकुरू था, में उत्पन्न हुए। सात हफ्ते के अन्दर वे वृद्धि को प्राप्त हुए, पति और पत्नी हुए तथा जैन मुनियों को आहारदान देने के पुण्य के फल का उपभोग करने लगे। उन्होंने लम्बे जीवन तक सुखोपयोग किया तथा उनके आनन्द में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी।

एक बार दो महान् साधु उनके पास आए। इनमें से जो बड़े थे, उन्होंने अपने को स्वयम्बुद्ध का पुनर्जन्म बतलाया। स्वयम्बुद्ध महाबल के जन्म में बज्रजंघ के मन्त्री थे। महाबल की सल्लेखना के बाद स्वयंबुद्ध सन्यासी हो गए थे और प्रथम स्वर्ग में उनका पुनर्जन्म हुआ था। वहां से समय पूर्ण होने पर उतरकर वे मनुष्यों के राजा के महल में जन्मे। उनका नाम प्रीतिकंर था। उन्होंने संसार त्याग सन्यास की शरण ली क्योंकि संसार त्याग की पुरानी आग उनमें प्रज्वलित थी। उन्होंने पवित्र

धर्म अङ्गीकार कर लिया तथा अपनी कठोर तपश्चर्या के फलस्वरूप अवधिज्ञान प्राप्त कर लिया। आन्तरिक ज्योति उनके मन में वापिस आई । अतः उन्हें पूर्वजन्मों का स्मरण हो आया । उन्होंने महाबल के जीव के पास जाने का निश्चय किया तथा उन्हें सम्यक्त्व धारण कराने का निश्चय किया । उन्हें आकाश गमन की शक्ति भी प्राप्त हो गयी थी, इसने उन्हें सागर और महाद्वीप पार करने की शक्ति प्रदान की । उनका साथी उनका छोटा भाई था । उपरोक्त वृत्तांत सुनाकर मुनि महाराज ने सुखी युगल के लिए सही धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या की । युगल ने बड़े ध्यान और प्रसन्नता पूर्वक उनकी बातें सुनी । वे उनके उपदेश से बड़े प्रभावित थे । उन्होंने उनकी अच्छाई और आदरभाव के प्रति असीम कृतज्ञता व्यक्त की । अनन्तर मुनि महाराज अपने साथी मुनि के साथ अपने देश लौट आए ।

भोगभूमिज भोगभूमि से च्युत होकर स्वर्ग में जन्म लेते हैं । श्रीमती और बज्रजंघ के जीव भी अन्त में भोगभूमि से अलग होकर एक बार पुनः स्वर्ग में उत्पन्न हुए ।

चार पशु सिहं, बन्दर, सूकर और नेवला भी भोगभूमि में उत्पन्न हुए थे; क्योंकि बज्रजंघ को मुनि को आहार देता देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई थी । आयु पूर्ण कर उनका जन्म द्वितीय स्वर्ग में हुआ ।

६ श्रीधर देव

बज्रजंघ अब पुनः एक ऊपर के स्वर्ग में थे । अब उनका नाम श्रीधर था । श्रीमती ने अब स्त्री पर्याय का परित्याग कर दिया । वह भी उसी स्वर्ग में जिसमें श्रीधर था, एक देव के रूप में उत्पन्न हुई, देवाङ्गना के रूप में नहीं । इसका कारण उसका सम्यग्दर्शन था, जिसके लिए स्वयम्बुद्ध को धन्यवाद दिया जाना चाहिए ।

पूर्व जन्म के चार साथी, मतिवर मन्त्री, अकम्पन सेनापति, आनन्द पुरोहित तथा धनमित्र सेठ ये सभी ग्रैवेयक विमानों में थे, क्योंकि उन्होंने बज्रजंघ और श्रीमती की आकस्मिक मृत्यु के बाद तप किया था ।

एक बार दोनों प्रिय जीवों ने अपने को उन दायरों में पाया, जिसे अत्यधिक भाग्यशाली मनुष्य प्राप्त करते हैं । इसे अजैन बड़ी कठिन तपस्या के फलस्वरूप तथा जैन तपरहित सम्यग्दर्शन से प्राप्त करते हैं । पिछले तीन भवों के प्रेमी अब घनिष्ट मित्र हो गए तथा उन्होंने एक दूसरे के सहवास में अत्यधिक सुख प्राप्त किया । उनका जीवन देवों के जीवन के समान व्यतीत होता था। वे अरहन्त की पूजा करते थे और स्वर्गिक सुखों को भोगने में अपना समय बिताते थे ।

जब सन्त प्रीतिमकर को अपने तपश्चरण के फलस्वरूप घातिया कर्मों का विनाश करने में सफलता प्राप्त हुई, तब देव उनकी पूजा के लिए नीचे आए । उनके साथ श्रीधर भी आया । उसने सर्वज्ञ मुनि से अपने की महाबल पर्याय के शेष तीन मन्त्रियों के दयनीय भाग्य के विषय में जाना। महामति और सम्भिन्नमति निगोदपर्याय में वापिस चले गये, जहाँ गहन अन्धकार है और शतमति द्वितीय नरक चला गया । श्रीधर को उनके प्रति बड़ी दया आई, यद्यपि उनमें से दो उसकी पहुँच और मदद के बाहर थे । उसने शतमति की मदद करनी चाही । तदनुसार एक दिन वह द्वितीय नरक में उतरा और शतमति को खोजा । उसने उससे अपनी पुरानी पहिचान बतलाई । उनका मिलन बड़ा कारुणिक था। शतमति दुःख से भरा हुआ था । उसने श्रीधर की सलाह को उत्सुकता पूर्वक

सुना। उसने तत्काल सत्य की शिक्षा पर विश्वास कर लिया और वह धर्म अङ्गीकार कर लिया, जो कि जीवों का परित्राता है। अनन्तर पुन: उसकी मदद करते हुए श्रीधर अपने स्वर्ग निवास पर वापिस आ गया।

जब शतमति की दूसरे नरक की आयु समाप्त हुई, तब वह मनुष्य के रूप में एक राजा के यहाँ उत्पन्न हुआ। वह जन्म से ही बहुत विचारपूर्ण था। तथा आनन्दोपभोग के प्रति अधिक लालायित न था। जब वह बड़ा हुआ, उसके पिता ने उसकी शादी का प्रबन्ध किया। श्रीधर देव को जब यह बात अपने अवधिज्ञान से ज्ञात हुई, तब वह नीचे मनुष्यों के मध्य आया तथा उसे पुन: सांसारिक जीवन में न फंसने की सलाह दी। युवक राजकुमार को अपने द्वितीय नरक के दु:खपूर्ण अनुभव याद आए तथा उसने अपने को शादी से रोक लिया। इसके तुरन्त बाद उसने संसार छोड़ दिया और एक सन्यासी मुनि हो गया। उसने कठिन तपश्चरण किया तथा सल्लेखना के द्वारा अपने शरीर का परित्याग किया। उसका जीव पांचवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। पांचवें स्वर्ग में अत्यधिक आनन्द देने वाले, चटकीले और सौन्दर्यशाली दृश्य है। अवधिज्ञान के द्वारा उसने अपने महान् सौभाग्य के विषय में निश्चित करने की शक्ति प्राप्त हुई। वह श्रीधर के पास गया और पुन: उससे मैत्री कर ली तथा उसने उसके लिए जो कुछ किया था, उसके लिए धन्यवाद दिया।

सुविधि

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सुसीमा प्रदेश में एक राजा राज्य करता था, जिसका नाम सुदृष्टि था। उसकी रानी सुन्दरानन्दा देवी थी। वह उतनी ही सुसम्पन्न थी, जितनी कि सुन्दर थी। श्रीधर देव का जीव अपने देव जीवन की समाप्ति के बाद सुन्दरानन्दा देवी के उत्पन्न हुआ। उसके माता-पिता ने उसका नाम सुविधि रखा। वह बहुत सुन्दर और आभायुक्त बच्चा था। उसने शीघ्र ही विभिन्न कलाओं और विज्ञान में आश्चर्यजनक दक्षता प्राप्त की।

जब वह बड़ा हुआ तो उसका विवाह उसकी मामा की लड़की से हुआ, जिसका नाम मनोरमा था। आजकल भारत वर्ष में समीप के सम्बन्धियों में विवाह नहीं होता है, तथापि भूतकाल में यह बहुत सामान्य बात थी। समीप के सम्बन्धियों में विवाह क्यों वर्जित हो गया, इसका कारण धार्मिक की अपेक्षा राजनैतिक अधिक था। यदि किसी राजा के एक दर्जन लड़के और इतनी ही लड़कियां हों तथा उनका विवाह अपने ही गोत्र में हो, तब आवश्यकता पड़ने पर शत्रुओं से लड़ने के लिए अपने गोत्र के सम्बन्धी ही होंगे, किन्तु यदि वह अपने बच्चों का विवाह अपने कुटुम्ब से यन्यत्र करता है तब भिन्न-भिन्न कबीलों 12 + 12 + 1 = 25 सेनाओं से कम सेनायें युद्ध क्षेत्र में नहीं खड़ी होंगी। शादी सम्बन्ध मित्रता स्थापित करने का सही सुअवसर प्रदान करता है। पुराने विधि प्रदाताओं ने इस नियम को समाज और धर्म के हित में प्रतिपादित किया था। आजकल इसके कारण की दृष्टि को हम भूल गए हैं और भावुकता तथा रिवाज के परिणामस्वरूप इसका अन्धे होकर पालन कर रहे हैं। गोत्र का बचाव इसी उद्देश्य का परिणाम है। आजकल के अग्रवाल यद्यपि यथार्थ में अपने ही गोत्र में विवाह करते हैं, तथापि वे इसे बचाने का प्रचार करते हैं। इस रिवाज की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है कि अग्रवालों ने अपना राज्य खो दिया और वे क्षत्रिय से वैश्य के रूप में बदल गए। गर्ववश उस वर्ग में वे अपनी कन्यायें नहीं देना चाहते थे, जो शासक वर्ग के नहीं थे। चूंकि शासक राजकुमार उन्हें स्वीकार नहीं करते थे अत: अपने वंश में देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था, किन्तु अपने निजी पूर्वज उग्रसेन के पुत्रों का वे बचाव करते

मनोरमा बहुत रिझाने वाली लड़की थी। उसने अपने स्वामी के हृदय पर शीघ्र अधिकार कर लिया। सुबिधि और मनोरमा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम केशव था। केशव सुन्दर और बहादुर था। केशव यथार्थ में श्रीमती का जीव था, जो कि भोगभूमि में जन्म लेने के बाद दूसरे स्वर्ग में पुन: जन्मा था। अपने मित्र के साथ उसी कुटुम्ब के साथ पुराने प्रेम ने पुन: आकर्षित किया। बज्रजंघ की पहले की प्रिय पत्नी अब वर्तमान जन्म में उसका पुत्र हुई।

सुबिधि को अपने पुत्र से बहुत अनुराग था और अपने पुत्र प्रेम के कारण वृद्धावस्था में भी पवित्र दीक्षा नहीं लेता था किन्तु उसने श्रावक के धर्मों का पूरी तरह पालन किया तथा सभी व्रत और प्रतिमाओं का पालन नियमित रूप से किया। अपने जीवन के अन्त में सन्यास के पूर्ण दृढ़ता के साथ उसने सल्लेखना ग्रहण की तथा वह आत्मचिन्तन में रत रहा।

चार पशुओं के जीव भी दूसरे स्वर्ग से उतरे तथा उसी देश में उनका राजकुमार के रूप में जन्म हुआ। उन्होंने साधु जीवन व्यतीत किया और अन्त में तपश्चरण हेतु संसारत्याग किया।

अच्युतेन्द्र

पार्थिव जीवन व्यतीत करने के बाद सुबिधि का जीव सोलहवें स्वर्ग गया। उसका नाम अच्युत था। वह इस स्वर्ग में इन्द्र हुआ तथा अच्युतेन्द्र (अच्युत + इन्द्र) के वैभव का आनन्द लेने लगा। सोलहवाँ स्वर्ग अन्तिम स्वर्ग है, इसके आगे बड़े स्वर्ग हैं, जहाँ स्त्रियां नहीं होती हैं। अच्युतेन्द्र की महिमा अवर्णनीय है। उसे बहुत आश्चर्यजनक ऋद्धियाँ (अलौकिक शक्तियाँ) प्राप्त होती हैं और अतुलनीय शान शौकत होती है। इस स्वर्ग में यौन सम्बन्ध विरल हैं। और तृप्ति पाने के निम्न प्रकार अपेक्षित नहीं रहते। सामीप्य, प्राय: वार्तालाप मात्र, यौन तृप्ति के अपरिष्कृत रूपों को प्रतिस्थापित कर देते हैं।

सुसीमा में आयु समाप्त कर इसी स्वर्ग में केशव भी प्रतेन्द्र हुआ। सुविधि की मृत्यु के बाद उसने भी तप किये थे। इसी के पुरस्कार स्वरूप उसका सोलहवें स्वर्ग में जन्म हुआ। प्रतेन्द्र की प्रतिष्ठा, जो कि उसने प्राप्त की थी, इन्द्र के समान ही उच्च थी।

चार राजकुमार जो कि पूर्व जन्म में व्याघ्र, सूकर, बन्दर और नेवला थे, अपनी तपस्या के फलस्वरूप इसी स्वर्ग में आए। वे सब बड़े मित्र थे और एक कुटुम्ब का सा निर्माण करते थे।

राजा वज्रनाभि

सब महानता जीव के किसी न किसी रूप में किए गए गुणों के अभ्यास के फलस्वरूप होती है। सम्यक्त्व सहित जब धार्मिकता के नियम और गुणों का पालन किया जाता है तभी अत्यधिक आश्चर्यकारक सौभाग्य फलित होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं में बहुत बड़ा वरदान है जो इसे प्राप्त करते हैं, वे जीवन में सर्वोच्च पद प्राप्त करते हैं। वे पुर्नजन्म में पदावनति से बचे रहते हैं और शीघ्र ही कुछ जन्मों के बाद, पुनर्जन्म और मरण, से बचे रहते हैं। इस सबका कारण यह है कि सही अन्तर्दृष्टि या श्रद्धा प्राप्त हो जाने पर पुरानी तरह के जीव के कर्मबन्धन वृद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं। थोड़े से जन्मों में कठोर आत्मसंयम द्वारा कर्मचक्र नष्ट हो जाता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के बाद जो भी पुनर्जन्म होते हैं, वे सभी आनन्दप्रद और प्रसन्नता देने वाले होते हैं और सभी प्रकार की मुसीबतों और अनिष्टों का विरोध करने की संकल्प शक्ति प्रदान करते हैं। यद्यपि वे पृथ्वी तथा स्वर्ग में सभी प्रकार के आराम प्राप्त करते हैं।

सोलहवें स्वर्ग की आयु पूर्ण करने के बाद अच्युतेन्द्र राजा बज्रसेन और रानी श्रीकान्ता का पुत्र हुआ। उसका नाम बज्रनाभि था। उसका शरीर चमकदार था और चमकीले सोने के समान चमकता था। उसके तन पर बहुत से शुभ चिन्ह थे और असाधारण रूप से बुद्धिमान् और दूरदर्शी था।

सिंह, सूकर, बानर तथा नेवला इसी प्रकार रानी श्रीकान्ता से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित के रूप में क्रमशः उत्पन्न हुए और इस प्रकार बज्रनाभि (पहले जन्म के बज्रजंघ) के भाई हुए।

बज्रजंघ के पुरान चार घनिष्ठ साथी, मतिवर मन्त्री, अकम्पन सेनापति, आनन्द पुरोहित तथा धनमित्र सेठ ने भी बज्रनाभि के छोटे भाईयों के रूप में जन्म लिया। उनके नाम क्रमश- सुबाहु, महाबाहु, पीठ तथा महापीठ थे।

16वें स्वर्ग से प्रतेन्द्र भी उसी भूमि पर उत्पन्न हुआ। वह कुबेरदत्त नामक बड़े सेठ का उसकी पत्नी अनन्तमती से पुत्र हुआ, बज्रनाभि ने उसे अपने घर प्रधान कञ्चुकी नियुक्त किया। इस प्रकार कर्मों ने पुनः पुराने मित्रों को एक साथ ला दिया।

समयपूर्ण होने पर राजा बज्रसेन सांसारिक सम्बन्धों से निवृत्त हुए और उन्होंने बज्रनाभि को मुकुट पहिनाया। बज्रनाभि बाद में चक्रवर्ती राजा हुए। उनकी आयुधशाला में जब चक्र प्रकट हुआ तब उन्होंने विश्वविजय करना आरम्भ किया तथा अनेक वर्षों बाद सफल होकर लौटे।

इसी समय उनके पिता ने केवलज्ञान प्राप्त किया तथा शुभकर्मों के परिपाक से तीर्थंकरत्व नामक दैवीय पद को प्राप्त किया। बज्रनाभि जो कि जीवन के सांसारिक भोगों से उदासीन थे, जिन्होंने केवल अपने पिता की इच्छानुसार विवाह किये थे, ने अपने आपको संसार से अत्यधिक विरक्त पाया। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र बज्रदन्त को सिंहासन पर बैठा दिया और अपने आठ भाईयों, जो कि उनके पूर्वजन्म के चार साथी मतिवर, अकम्पन, आनन्द एवं धनमित्र थे तथा चार क्रमशः सिंह, सूकर, बानर तथा नेवले की पर्याय के जीव थे, के साथ जैन मुनि के रूप में तपोजीवन अङ्गीकार किया। बहुत सारे राजागण और बड़े लोगों ने उनके उदाहरण का अनुसरण किया और उनके साथ धर्म में प्रविष्ट हुए।

संसार में तीर्थंकर पद का मिलना बड़ा कठिन है। यह असंख्यात वर्षों के मध्य काल चक्र के आधे भाग में चौबीस पुरुष ही प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर पद की प्राप्ति के प्रमुख कारण हैं - संसार के प्राणियों को दुःखों को दूर करने की ज्वलन्त इच्छा, सभी जीवित प्राणियों के हृदय में ज्ञान और आनन्द ला देना, पूर्ण श्रद्धा, देव, शास्त्र, गुरु के प्रति पूर्ण विनय, प्रेम, सेवा तथा सत्यान्वेषण। ये सम्पूर्ण रूप में सोलह कारण भावनायें कहलाती हैं जो कि तीर्थंकरत्व की महिमा को प्रदान करती है। इस सर्वश्रेष्ठ पद का बीजवपन प्रायः कर तीर्थंकर की उपस्थिति में ही होता है। सम्भवतः उनका उदाहरण ही मस्तिष्क प्रज्वलित कर भावनाओं को ऊपर उठाता है।

बज्रनाभि तीर्थंकर, जो उनके स्वयं पिता थे, के उदाहरण से प्रज्वलित थे। उन्होंने स्वयं तीर्थंकर बनने की अभिलाषा की। वे संसार के उन सभी जीवों की रक्षा करना चाहते थे जो दुःख और परेशानी से ओतप्रोत थे। तब से लेकर सभी को ज्ञान और आनन्द लाना उनके जीवन का सदुद्देश्य हो गया। वे अपनी अध चेतना को अपने वश में करने में तब तक सफल हो ही गए थे। अब उन्होंने आत्म त्याग व वीतरागता की पूर्णता की उपलब्धि के लिए पुनः अपने प्रयत्न दुगने

कर दिए। साधु के रूप में उनका जीवन प्राय: सजगता, अध्ययन, सत्य की खोज, तप तथा उपवास, साधुओं की सेवा, कठोर आत्मसंयम की विशेषताओं से युक्त हो गया। उसने यथेष्ट रूप में अपने अशुभ कर्मों को कृश कर दिया तथा शरीरधारण एवं दु:खों के मूल कारण का पता लगाकर सही वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि या सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। सही बात यह है कि धर्म तब तक प्रारम्भ नहीं होता है जब तक सभी अन्धविश्वास, जिसमें वह कल्पना भी शामिल है कि एक ईश्वर है जिसने संसार और सभी चेतन प्राणियों की सृष्टि की है, पूर्ण समाप्त नहीं हो जाते। बज्रनाभि का श्रद्धान मृदता रहित था और तलवार की धार के समान स्थिर था, उन्हें भेदविज्ञान प्रकट था।

आयु के अन्त में बज्रनाभि ने पावन सल्लेखना धारण की। जो दु:ख तथा मृत्यु के चंगुल से छुटकारे की खोज में हैं, वे सभी इस सल्लेखना को चाहते हैं। वह सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न हुए। बज्रनाभि के आठ भाई और सेठ के पुत्र धनमित्र ने आत्मशुद्धि करने वाले कठोर तपश्चरण के फलस्वरूप उसी सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त किया।

अहमिन्द्र

जब पावन सल्लेखना की पराकाष्ठा पर उसके औदारिक शरीर से आत्मा अलग हुई, तब बज्रनाभि ने अपने नेत्र खोले तथा अत्यधिक स्पृहायुक्त सर्वार्थसिद्धि के प्रिय दायरे में अपने को पाया। सर्वार्थसिद्धि का शाब्दिक अर्थ होता है - जहां सभी इच्छाओं की तृप्ति होती है। जो इस भूमि में जन्म लेते हैं, अक्षरश: उनकी कोई इच्छायें नहीं रहती है। व्यावहारिक रूप में उनकी यात्रा समाप्त हो चुकती है और केवल उन्हें पृथ्वी पर एक जन्म और लेना पड़ता है। वे इस तथ्य को जानते हैं तथा तदनुसार मानसिक शान्ति से भरे होते हैं। इसका मूल्याङ्कन वही कर सकते हैं, जिन्होंने इसका अनुभव किया हो। अब तक उनकी आत्मा का बोझ बहुत हलका हो जाता है। इच्छाओं की प्रकृति को लगभग पूरी तरह उखाड़ दिया जाता है।

निर्वाण स्थल, पूर्ण पुरुष का निवासस्थल, सर्वार्थसिद्धि से कुछ योजन ऊपर है। यहाँ न मृत्यु है, न रोग है, नक्षय है। दूसरे शब्दों में यह अमर देवों का घर है। इस सिद्धशिला की भूमि भी ऐसी धातू की है जो कि बहुमूल्य पत्थरों की तरह चमचमाती है। स्वर्गों से ऊपर स्त्रियाँ नहीं हैं। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि भी उनकी उपस्थिति से मुक्त है। जो देव यहाँ उत्पन्न होते हैं, वे प्रवीचार रहित हैं। वे उपना समय मानसिक शान्ति के आनन्द में व्यतीत करते हैं। उनकी आयु बहुत लम्बी होती है। उनकी आयु वर्षों नहीं, अपितु वर्षों के सागरों में नापी जाती है। वे सभी 33 सागर वर्षों तक रहते हैं। उनके यहाँ अकाल मृत्यु नहीं होती है।

1 एक योजन = 2000 कोश या 4000 मील

जीवन यात्रा के प्रारम्भिक चरणों में किये गये शुभकर्मों का प्रभाव, लक्ष्य के समीप पहुँचने पर, उनके भीतर छुपी आध्यात्मिक महानता को उजागर करने में सहायक होता है। वे अपनी अंतरात्मा से उद्भूत शान्ति व आनन्द में लीन रहते हैं, यद्यपि ये आंशिक रूप से भौतिक प्रकृति से प्रभावित होते हैं, जिसका उन्मूलन अभी शेष रहता है। कामेच्छा उच्च ज्वर से ग्रस्त रोगी की प्यास के समान होती है, जो केवल वही मनुष्य अनुभव करता है जोकि इंद्रियों का दास हो। जिस प्रकार हिम जल प्यास उत्पन्न करने वाले ज्वर से मुक्त व्यक्ति को तृप्तिकारक नहीं लगता, उसी प्रकार जितेन्द्रिय भव्यात्मा को कामोपभोग सुख में वृद्धि करने वाला प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार पाश्विक प्रकृति पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर चुका व्यक्ति इच्छा से मुक्त हो जाता है और उत्तेजना की कमी अथवा आवश्यकता अनुभव नहीं करता।

अहमिन्द्रों को किसी प्रकार का खेद, आवश्कतायें तथा ऐन्द्रियिक सुख की इच्छायें नहीं होती हैं। यहां तक कि वे स्वर्ग या पृथ्वी के दूसरे प्रदेशों में भ्रमण नहीं करते हैं तथा आत्मा के सहजानन्द गुण से भरे रहते हैं।

अहमिन्द्र तेतीस हजार वर्षों में एक बार आहार लेते हैं और तेतीस पक्ष बाद सांस लेते हैं। वे मल तथा पसीने का विसर्जन नहीं करते हैं। उनके आहार का परिमाण निचले स्वर्गों से कम होता है। अहमिंद्र की ऊंचाई एक हाथ होती है। उनका शरीर समचतुरस्त्र संस्थान से अत्यन्त सुन्दर होता है। उनके नाकनक्श तथा रूप कुरुप नहीं होते हैं। सभी अहमिन्द्र सज्जन, क्रोधरहित और असाधारण बुद्धिमान् होते हैं।

अहमिन्द्र शब्द अहम् और इन्द्र का मिश्रण है, जिसका अर्थ होता है "मैं इन्द्र हूँ।" प्रत्येक अहमिन्द्र जानता और अनुभव करता है कि वह स्वयं इन्द्र है, उसके ऊपर कोई इन्द्र नहीं है। वे एक दूसरे के प्रति पूर्ण समानता का व्यवहार करते हैं।

भोजन की आवश्यकता तथा श्वासोच्छ्वास का सम्बन्ध स्वर्गों में निश्चित रूप से प्रतीत होता है। एक सागर वर्ष में, एक हजार वर्षों में एक बार भोजन करने व एक पक्ष में एक बार श्वांस लेने की आवश्यकता होती है। देव जीवन के विभिन्न स्तरों पर यह अनुपात - अर्थात् चौबीस हजार श्वांस लेने के बाद एक बार भोजन - समुचित रूप से लागू रहता है।

यही अनुपात प्रकृति ने मनुष्य के लिए निश्चित किया है। हम 24 घण्टे में 24 हजार बार सांस लेते हैं, अत: हमें 24 घण्टे में एक बार आहार लेने की आवश्यकता होनी चाहिए। शायद हम विकास की अति तीव्र प्रक्रिया में हितकारी प्रकृति से बहुत दूर चले आये हैं।

साधु दिन में एक बार आहार लेते हैं, उनमें कार्य करने की क्षमता और शक्ति अधिक होती है।

बज्रनाभि ने सर्वार्थसिद्धि में 33 सागर सर्वोच्च प्रशान्तता और आनन्द का उपभोग करने में बिताए। उनके पूर्वजन्मों के मित्र उनके साथ उसी विमान में थे। उनकी आयु भी 33 सागर थी और समान स्तर का आनन्द लेते थे। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि सर्वार्थसिद्धि में नीचे के स्वर्गों के समान ईर्ष्या को कोई स्थान नहीं है।

❑❑❑

अध्याय २

प्रारम्भिक अस्तित्व की दशायें

वर्तमान समय का अर्द्धचक्र अवसर्पिणी काल कहलाता है। इसका प्रारम्भ लगभग 10 कोड़ा कोड़ी सागर कम 39500 वर्ष पूर्व हुआ था (2 कोड़ा कोड़ी = 100,000,000× 100,000,000)। इसकी प्रारम्भिक स्थिति में हमारी छोटी सी पृथ्वी पर वस्तुओं की दशा भोगभूमि के सदृश थी।

काल के अर्द्धचक्र में छः आरे होते हैं। काल के हमारे अर्द्धचक्र का पहला अरा 4 कोडाकोड़ी, दूसरा तीन कोड़ाकोड़ी, तीसरा दो कोड़ाकोड़ी, चौथा एक कोड़ाकोड़ी सागर कम ब्यालीस हजार वर्ष का था। पांचवाँ (जो कि चल रहा है) की अवधि 21000 वर्ष होगी तथा छटे की अवधि पाँचवें के बराबर होगी।

अवसर्पिणी वृत्त का अवनति का अंश है; क्योंकि इसका चाप अवनति का होता है। सभी चीजों की अवनति हो चुकी है और इस काल में पुनः अवनति होगी। दूसरा अर्द्धचक्र इसका विपरीत होगा। जीवनावधि, कद तथा अस्तित्व की दशायें इसी प्रकार प्रभावित होती हैं। भोगभूमि की तरह की सुविधाओं ने बहुत पहले विलीन होना प्रारम्भ किया और अर्द्धचक्र के चौथे आरे के प्रारम्भ में वे पूर्ण रूप से विलीन हो गईं। तब मनुष्यों को अपने निर्वाह हेतु कठिन परिश्रम करने के लिए दबाव पड़ा तथा उनके मस्तिष्क में धीरे-धीरे व्यक्तिगत मालकियत के विचार ने रूप लिया।

कानून और व्यवस्था की संस्कृति की आधारशिला यकायक नहीं रखी गयी। मनुष्यों को ज्ञानवान् बनाने हेतु समय-समय पर बुद्धिमान व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार के मनीषी 14 कहे गए हैं। इनमें से अन्तिम बहुत बड़ा मनीषी हुआ। उसका नाम नाभिराय था। उसका एक जवान युवती से विवाह हुआ जो कि स्त्रियोचित गुणों और प्रेम से युक्त थी। उसका नाम मरुदेवी थी। उसे विश्व के परित्राता प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये इस युग में धर्म के मौलिक संस्थापक थे।

नाभिराय जन्म से अवधिज्ञानी थे। उन्होंने समाज की दशा में जिसने रूप लेना प्रारम्भ किया था, अनेक सुधार किए। उल्लेखनीय है कि उन दिनों गम्भीर अपराध पूरी तरह अज्ञात थे, और मनुष्यों द्वारा कानून की किंचित्मात्र आवश्यकता का अनुभव उस समय तक नहीं हुआ।

प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति थे। उनके समय में भोगभूमि के वे वृक्ष जिनके चारों ओर तीव्र प्रकाश होता था, अदृश्य हो गए। सूर्य और चन्द्रमा दिखलाई पड़ने लगे। जिन मनुष्यों ने उन्हें पहली बार देखा, वे चकित हुए। यह प्रतिश्रुति थे जिन्होंने अपनी श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा उनके (सूर्य और चन्द्रमा के) प्रकट होने के कारण को देखा। उसने उनको बतलाया कि वृक्षों का प्रकाश इतना शक्तिशाली था, कि सूर्य और चन्द्रमा दिखाई नहीं देते थे। अब चूंकि वह चमक फीकी पड़ गई है, अतः वे दिखलाई देने लगे हैं। उनके समय से दिन और रात का भेद प्रारम्भ हुआ। यह आषाढ़ की पूर्णमासी का दिन था, जब कि आकाश में सूर्य और चन्द्रमा दिखलाई पड़े थे, यह अनभिलिखित इतिहास और गणनीय काल की प्रथम शुरूआत थी।

प्रतिश्रुति के काल में कुछ राजत्व भी जानने और स्थापित होने में आया। किन्तु अब भी यह बहुत अस्पष्ट था। नियम का उल्लंघन बहुत कम था। मनुष्य बहुत सरल थे, उनमें धोखा और छल नहीं था। किसी भी गलत कार्य से रोकने के लिए "हा", कहना ही पर्याप्त था। केवल यही एक कानून था, जो कि प्रथम पांच कुलकरों के समय निवारक कानून के रूप में था।

सन्मति दूसरे कुलकर थे। उनके समय में वृक्षों का प्रकाश अत्यधिक मन्द पड़ गया, यहां तक कि आकाश में तारे दिखाई देने लगे। सन्मति नक्षत्र मण्डल के स्थान को जानने में समर्थ थे। इस प्रकार उन्हें काल के वर्तमान अर्द्धचक्र का प्रथम खगोलशास्त्री कहा जा सकता है।

बहुत-बहुत समय के अन्तराल के बाद क्षेमङ्कर आए। उनके समय पशु उपद्रवी होने लगे। अभी तक भोजन देने वाले वृक्ष मनुष्य और पशुओं को पर्याप्त भोजन देते थे। किन्तु अब परिस्थितियाँ बदल रही थीं और प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए देखने लगा था। क्षेमङ्कर के समय पालतू और वन्य पशुओं में भेद हुआ।

क्षेमङ्कर के बाद लम्बे अन्तराल बाद क्षेमन्धर चौथा मनु हुआ। उसने वन्य पशुओं को भगाने के लिए लकड़ी और पत्थर के हथियारों का आविष्कार किया।

अगला कुलकर सीमंकर था। उसके समय कल्पवृक्षों, जो कि बहुत थोड़े रह गए थे, के लिए झगड़ा होना प्रारम्भ हुआ। उसने मनुष्यों के विभिन्न वर्ग और समाजों के लिए क्षेत्रों का स्वामित्व निश्चित किया। वह सीमङ्कर कहलाया, क्योंकि उसने वस्तुओं की सीमा निर्धारित कर दी।

अगला कुलकर सीमन्धर हुआ। उसके समय विलुप्त होते हुए कल्पवृक्षों पर झगड़ा बहुत अधिक बढ़ गया। उसने वृक्षों के ऊपर व्यक्तिगत स्वामित्व की नींव रखी औरउनके ऊपर चिन्ह लगावाए।

विमलवाहन सातवाँ कुलकर था। उसने मनुष्यों को यह सिखलाया कि पालतू पशुओं की सेवाओं का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है। उसने इन पशुओं पर नियन्त्रण रखने के लिए पगहा, घोड़े की लगाम तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं का आविष्कार किया।

बहुत समय व्यतीत होने पर चक्षुष्मान् हुआ। उसके समय भोगभूमि की पुरानी रीति इतनी अधिक बदल गई थी कि माता-पिता अपनी सन्तान के जन्म के समय मृत्यु को प्राप्त नहीं होते थे। कुछ मनुष्यों को इस पर आश्चर्य हुआ और इस परिवर्तन के विषय में चक्षुष्मान से पूछताछ की, जिसे उसने समझाया।

दूसरे बहुत समय बीतने के बाद यशस्वान् नाम का नौवां कुलकर उत्पन्न हुआ। उसने यह सिखलाया कि बच्चों का निजी रूप में किस प्रकार ध्यान रखना चाहिए और किस प्रकार उनकी शुभकामना करनी चाएि।

दसवाँ मनु अभिचन्द्र था, जिसके समय वस्तुओं की पुरानी पद्धति पुन: परिवर्तित हो गई। अब लोग अपने बच्चों के साथ खेलने के समय तक रहने लगे। उन्होंने उन्हें लाभदायक निर्देश देना प्रारम्भ कर दिया। चूंकि अभिचन्द्र अपने बच्चों के साथ चांदनी में खेलने वाला पहला व्यक्ति था, अत: उसका नाम अभिचन्द्र पड़ा।

ग्यारहवां मनु चन्द्राभ था, जिसके समय बच्चों की ठीक तरह से देखभाल होने लगी। उसका निर्देशन भी दूसरे कुछ मायनों में मानवता के लिए बहुत लाभप्रद था।

बारहवाँ मनु मरुद्देव था। उसके समय समस्त कल्पवृक्षों जो कि अब भी भूमि पर रह गए थे, पर राज्य का नियन्त्रण हो गया। मरूद्देव ने मनुष्य को नाव चलाने की कला सिखाई और विभिन्न प्रकार की नौकायें तथा छोटे व्यापारी जहाज बनाए। मनुष्य अब ऊंची दीवारों और पहाड़ियों को नापने लगे। बहुत सी छोटी पहाड़ियाँ, झरने और झीलों ने उसके समय रूप ग्रहण किया और पहली बार कुछ अल्पमात्रा में तथा अनियमित वर्षा हुई।

प्रसेनजित अन्तिम कुलकर से पूर्व का (तेरहवां) कुलकर हुआ। उसके समय बच्चे प्रसेत - झिल्ली के साथ पैदा होने लगे, इसी कारण उसका नाम प्रसेनजित पड़ा। उसके समय के पूर्व बच्चे झिल्ली में लिपटे हुए पैदा नहीं होते थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है अन्तिम कुलकर नाभिराय थे। वह अपने युग के सर्वोच्चम बुद्धिशाली मनुष्य थे। उनका नाम नाभिराय इसलिए पड़ा, क्योंकि उन्होंने बच्चों की नाल काटना सिखलाया। अब आकाश में मूसलाधार वर्षा के बादल इकट्ठे होने लगे थे। ऐसा प्रतीत होता है। कि मरूद्देव के समय तक कल्पवृक्षों के अस्तित्व ने अथवा अन्य किसी प्राकृतिक शक्ति ने जो बादल बनने में बाधक थी, ने आकाश में वर्षा के बादलों को रोका हुआ था, किन्तु उनके समय कभी-कभी वर्षा होती थी। 14वें मनु के समय बादल और वर्षा नियमित होने लगी।

14वें मनु के समय फलों वाले वृक्षों की सहज खेती होने लगी। जहाँ तक दण्डसम्बन्धी नियमों की बात है, इसके लिए अभी तक विस्तृत मापदण्डों की आवश्यकता नहीं थी। जैसा पहले कहा जा चुका है, पहले पांच कुलकरों ने गलत कार्य करने वालों को "हा" कहकर फटकाना पर्याप्त समझा अगले पाँच को "मा" कहने की आवश्यकता पड़ी, इसमें अस्वीकृति या निषेध पर जोर अधिक था "मा" खेद को अभिव्यक्त करता है, जैसे कहा गया हो - "मुझे खेद है कि आपने इस प्रकार का कार्य किया। अपराधी को भविष्य में सीधा रखने के लिए यह काफी था। शेष कुलकरों ने "धिक" को दण्ड के वर्तमान नियमों में और जोड़ दिया। इसमें बुरे कार्य के प्रति अत्यधिक घृणा व्यक्त होती थी। नियमित नियम भरत के समय स्थापित हुए, जिनके विषय में हम आग कहेंगे।

❑❑❑

चौबीस तीर्थंकर

वामनोऽपि. ततश्चक्रे तत्र तीर्थावगाहनम् ।
याहयूपः शिवो दृष्टः सूर्यबिम्बे दिगम्बरः ॥
पद्मासनस्थितः सौम्यस्तथा तं तत्र संस्मरन् ।
प्रतिष्ठाप्य महामूर्तिं पूजयामास वासरम् ॥
मनोऽभीष्ट सिद्धध्यर्थं ततः सिद्धिमवाप्तवान् ।
नेमिनाथ शिवेत्येवं नामश्चकरे स वामनः ॥

वामन ने उस स्थान का तीर्थ के रूप में सम्मान किया । सूर्य के बिम्ब में शिव का असली दिगम्बर रूप दिखाई दिया । पद्मासन में स्थिति सौम्य उनका वहाँ स्मरण करते हुए उसने बासर की मूर्ति स्थापित की और उसकी पूजा की । ऐसा उसने अपने हृदय की इच्छाओं की पूर्ति हेतु किया । उससे मनोरथ पूर्ण हुआ । उस वामन ने नेमिनाथ शिव नाम रखा ।

स्कन्द पुराण (हिन्दू) प्रभास भाग - 16, 94-96

चौबीस की संख्या का विशेष महत्त्व है । हिन्दू अपने सुप्रसिद्ध देव विष्णु के चौबीस अवतार मानते हैं । प्राचीन बेबीलोनियन लोगों के 24 सलाहकार देव थे । बौद्ध लोग 24 बुद्ध मानते हैं । जरथुस्त्र के अनुयायी 24 अहुर (सृष्टा) मानते हैं । जो कामनाओं व शुभेच्छाओं के प्रतिफलन हेतु सर्वशक्तिमान माने जाते हैं । इनका उल्लेख पारसियों के एक धर्मग्रन्थ में इस प्रकार है- आप हमें आशीर्वाद दें, आप जो सभी एक इच्छा रखते हैं तथा जिनके लिए विवेकपूर्ण कल्याणकारी विचार, पवित्रता बुद्धि एकमेव हैं, क्योंकि आपने श्रद्धापूर्वक पूजने पर सहायता करने का वायदा किया है ।

जैन तथा अजैन विचारों में एकता की सामग्री यहूदी धर्मग्रन्थों में मिलती है जहाँ जेकब की सीढ़ी में 24 व्यक्तियों की जानकारी प्राप्त होती है । वहाँ इस प्रकार की व्याख्या दी गई है -

रूप बदलते दो-दो मानव मुखों से युक्त बारह चरणों वाली जो सीढ़ी तूने देखी-यही इस युग की सीढ़ी है, इसके बारह चरण इस युग के काल हैं तथा चौबीस चेहरे इस युग के नियमातीत मूर्तिपूजकों के राजा हैं । तुम्हारी सन्तति का न्याय इन्हीं राजाओं द्वारा किया जायेगा ।

The lost Apocrypha of the old treatment, pages 96, 98 and 99)

यथार्थ में भाषा बहुत सुबोध नहीं है इसे सरल शब्दों में कहा जा सकता था । किन्तु उद्धरण की सही अर्थ लगाना कठिन नहीं है । मूर्ति पूजकों से तात्पर्य गैर-इस्रायलियों से है, तथा नियमातीत वे हैं जो नियमों से ऊपर उठ चुके हैं, अर्थात् जो शास्त्रोपदेश को यम नियमों मात्र से, बाह्य रुढ़ियों

के आवरण से स्वतंत्र होकर, उनके सार को, आत्मा को, ग्रहण करते हैं। इस प्रकार आत्मज्ञानी, जिन्होंने आत्मा के देवत्व को जाना है, नियमातीत हैं, और उनके चौबीस राजा चौबीस तीर्थंकर हैं जिनके द्वारा मोक्ष की इच्छा रखने वालों का न्याय किया जायेगा।

दूसरे शब्दों में चौबीस तीर्थंकर मनुष्य के हेतु पूर्णता के आदर्श हैं। मनुष्यों को मोक्ष प्राप्ति के लिए स्वयं को उनके स्तर तक ऊंचा उठाना चाहिये।

(यहूदी रहस्यवाद में) ईसाई धर्मशास्त्र में इस प्रकार का प्रमाण है, जो कि उनके धर्म का सही पक्ष है। प्रतीकात्मक प्रचलन के कारण इसका सही गुण का पक्ष नष्ट हो गया, जिसने हमें एक दूसरे से तथा सत्य से अलग कर दिया। जब विश्व के धर्मों के सही अभिप्राय पर पहुँचते हैं, तब मतभेद सामान्यतया समाप्त हो जाते हैं। तब मनुष्य चकित से आश्चर्य में एक दूसरे को देखते रह जायेंगे। इस महान सत्य की स्वयं अनुभूति के लिए पाठकों को 'द की ऑफ नॉलेज', 'द कन्फ्लूएन्स ऑफ अपोजिस्ट्स' तथा ग्लिम्सिस् ऑफ ए हिडिन साइन्स इन ओरिजिनल क्रिश्चियन टीचिंग्स', पुस्तकें पढ़ना चाहिए।

इस सैद्धान्तिक एकता का अत्यधिक उल्लेखनीय मामला ईसाईयों के धर्मशास्त्र में (प्रगटीकरण) का उल्लेख है, जहाँ दृश्य और परिधि विशुद्ध जैन है। एक दीक्षा का दृश्य रूपकीय शैली में स्थापित किया गया है। एक विशाल अहाते के मध्य एक सिंहासन रखा है, जिस पर जीव रखा गया है, जो कि दैवीय है। सिंहासन के चारों और चौबीस आसन हैं जहाँ 24 बड़े सफेद वस्त्र और स्वर्ण मुकुट पहने बैठे हैं। इस सभा कक्ष में एक मैमने को प्रस्तुत किया गया है जो कि अत्यधिक नम्र जीवात्मा का प्रतीक है। सिंहासन सामने चार उल्लेखनीय जंगलीपशु हैं, उनमें एक बाघ जैसा है, दूसरा गरूड के सदृष्य है, तीसरे की आकृति बछड़े जैसी है और चौथे का चेहरा मनुष्य का है। इन पशुओं में से प्रत्येक के छह पंख हैं और सब ओर नेत्रों से भरे हैं। वे रात दिन विश्राम नहीं करते हैं, किन्तु सिंहासनारूढ़ को दुआ देते रहते हैं।

दीक्षाहाल की इस प्रकार दृश्यमय कल्पना है। 'की ऑफ नॉलेज' के दसवें अध्याय तथा 'द कन्फ्ल्यूएन्स ऑफ अपोजिट्स' के सातवें तथा दसवें अध्याय में इसकी विस्तृत व्याख्या है किन्त इस व्याख्या के संक्षिप्त रूप को देने का यहां प्रयास किया गया है। पशु विभिन्न प्रकार की आत्माओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये पुद्‌गल के चार तत्त्वों के मूर्त रूप हैं, जिनका नाम है- पृथ्वीकायिक (बाघ के रूप में इसका प्रतिनिधित्व है, क्योंकि वह पृथ्वी पर घूमता है। वायुकायिक (गरूड के रूप में इसका प्रतिनिधित्व है, क्योंकि यह आकाश में उड़ता है। जलकायिक (बछड़े के रूप में इसका प्रतिनिधित्व है, यह स्तनपायी प्राणियों में जवान है) तथा अग्नि कायिक (सूर्य के रूप में इसका प्रतिनिधित्व है, इसको इस प्रकार रंगा गया है - जैसे वह मनुष्य का चेहरा हो)। पंख काल के प्रतीक है, क्योंकि यह उड़ता है। छह की संख्या काल के अर्द्धचक्र के छ: आरों को अभिव्यक्त करती है, जिनमें चौबीस तीर्थंकर अवतरित होकर सत्य का प्रचार करते हैं। इसमें यह रहस्यात्मक शिक्षा है कि जीवन दैवीय है और इसका दैवीय रूप चौबीस तीर्थंकरों में पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है, जो कि काल के अर्द्धचक्र में प्रकट होते हैं तथा जीवों के हित के लिए आर्यसत्य का प्रचार करते हैं। ये जीव पौद्‌गलिक शरीर के रूप में हैं। इस उच्चतम सत्य को रहस्यात्मात्मक भाषा में क्यों छिपाया गया जो भाषा मनुष्य के लिए दुर्बोध है, उपर्युक्त ग्रन्थों में इसकी व्याख्या है। यहाँ इसका पुन: कथन नहीं किया जा सकता।

काल के प्रत्येक अर्द्धचक्र में तीर्थंकर केवल 24 ही होते हैं, किन्तु सिद्दों की संख्या बड़ी है। अनन्त गुणों की प्राप्ति का जहाँ तक सम्बन्ध है, सिद्ध सभी मायनों में तीर्थंकरों जैसे ही हैं। वे सभी सर्वज्ञ हैं तथा तीर्थंकरों के सभी गुणों से युक्त हैं। किन्तु वे तीर्थंकरों से इस मायने में भिन्न हैं कि जीवन का मिशन तीर्थंकरों के समान उपदेश देना नहीं है, अत: वे उस प्रकार की तड़क भड़क से रहित हैं, जिसे देव और मनुष्य तीर्थंकर के सामने करते हैं।

यहूदी तथा ईसाई धर्म ग्रन्थों में सिद्धों का भी उल्लेख है। यहूदियों के यहां कहा गया है-

मुझ एस्ड्रस ने सियोन पर्वत पर विशाल भीड़ देखी, जिसकी गणना असम्भव थी तथा जिसमें सभी गीत गाकर स्वामी का गुणगान कर रहे थे। उनके मध्य सर्वोच्च कद वाला युवा सबको मुकुट पहना रहा था तथा और भी ऊंचा उठता जाता था। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। अत: मैंने फरिश्ते से पूछा कि प्रभु यह कौन है। उसने बताया कि ये वे हैं, जिन्होंने नश्वर रूप त्याग कर अनश्वर रूप धारण किया है तथा ईश्वर के नाम को अङ्गीकार किया है। अब वे मुकुट व ताड़पत्र प्राप्त कर रहे हैं। मैंने फरिश्तों से पूछा कि उनको मुकुट व ताड़पत्र प्रदान करने वाला युवा कौन है ? उसने बताया कि वह ईश्वर का पुत्र है, जिसे लोगों ने संसार में माना है।

II Esdras Chap. II

उपर्युक्त अधूरे प्रकट और अधूरे रहस्यमय वर्णन की व्याख्या यह है कि आदर्श का पालन करने से (यहूदी तथा ईसाई शब्दों में ईश्वर का पुत्र)।

आत्माओं को देवत्व का ताज मिला। जिन्होंने अपने को किसी अधीनता या द्वेषपूर्ण शक्तियों से मुक्त कर लिया है, अगणित हैं। ये ही जैनधर्म के सिद्ध हैं।

Book of revelation के 9वें 13वें और 17वें पद्य में सिद्धों के विषय में ईसाईयों का विवरण इस प्रकार दिया गया है -

''इसके बाद मैंने एक विशाल भीड़ को देखा, जिसको कोई नहीं गिन सकता था। वे ताड़ पत्र हाथों में लिए, श्वेत वस्त्रों में लिपटे सिंहासन के सम्मुख खड़े थे।

13. बड़ों में से एक ने मुझसे पूछा कि वे श्वेत वस्त्रधारी कौन थे और कहां से आए थे।
14. मैंने कहा श्रीमन् आप जानते हैं। उसने कहा कि वे महाविपत्ति से निकलकर आये थे। उन्होंने अपने वस्त्रों को मेमने के रक्त में धोकर श्वेत कर लिया था।
15. अतएव वे ईश्वर के आसन के सम्मुख खड़े थे, दिन रात मन्दिर में उसकी पूजा करते थे और वह जो सिंहासनारूढ़ है, उनके बीच रहेगा।
16. उन्हें न भूख लगेगी, न प्यास, न ही सूर्य का तेज उन्हें जलाएगा।
17. क्योंकि सिंहासनारूढ़ मेमना उन्हें भोजन देगा व जल के बहते आधारों तक ले जायेगा। ईश्वर उनकी आंखों से आंसू पोंछ देगा।

नि:सन्देह रूप में रहस्यवादी लिपि में यह सिद्धत्व का सही वर्णन है। उद्धरण का विस्तृत अभिप्राय उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थों से जानना चाहिए। यहां रूपक शैली में कही गई बातों की व्याख्या का स्थान नहीं है।

किन्तु हम सब जानना चाहेंगे कि सिकन्दरिया के क्लोमेण्ट ने, जो कि मेथोडियस के अनुसार संत पीटर का शिष्य था, ईसाई प्रगटीकरण के चौबीसों बड़ों के सम्बन्ध में क्या कहा है।

वह लिखता है (See the ante micene christian library vol. XII P.P. 365-366)-

वह यहाँ फरिश्ते के समकक्ष होता है जो अपने भावावेशों को जीतकर भावरूप हो जाता है तथा पूर्ण आत्मज्ञान जनित सदाशयता को प्राप्त कर लेता है। सदभ्यास के प्रकाश में सूर्य के समान चमकता हुआ वह ज्ञान विवेक द्वारा ईश्वर के प्रेम को पाता हुआ पवित्र आवास तक धर्मदूतों के समान पहुंचता है। यद्यपि पृथ्वी पर वह मुख्यासन द्वारा सम्मानित नहीं होता, पर जैसा कि जौन ने प्रगटीकरण में कहा है, वह चौबीस आसनों पर बैठकर मनुष्यों का न्याय करेगा।

ये आसन मनुष्यों में सबसे ऊंचे गुरुओं के लिए हैं। यदि मनुष्य दैविक पूर्णता पाना चाहते हैं तो उन्हें स्वयं को इनको आदर्श मानकर आंकना होगा। यही तीर्थंकर हैं जो संख्या में उतने ही हैं, जितने वे आसन और उन पर बैठे हुए बड़े।

जहां तक सिद्धों की श्रेष्ठतम स्थिति का सम्बन्ध है, सिद्ध (ईसाई भाषा में The saved ones) प्रारम्भिक ईसाई उपदेश उनके निर्वाण की स्थिति में उन्हीं विशेषताओं का निर्देश करते हैं, जो जैन शास्त्रों में दी गई हैं -

"वहां न तो मृत्यु, न दुःख, न चिल्लाहट, न अन्य किसी प्रकार का कष्ट है"
Revelation XXI 4

जहाँ तक सिद्धों की श्रेष्ठतम स्थिति का सम्बन्ध है, सिद्ध (ईसाई भाषा में The saved ones), प्रारम्भिक ईसाई उपदेश उनकी निर्वाण की स्थिति में उन्हीं विशेषताओं का निर्देश करते हैं, जो जैन शास्त्रों में दी गई हैं।

"वहां न तो मृत्यु, न दुःख, न चिल्लाहट, न अन्य किसी प्रकार का कष्ट है"
Revelation XXI 4.

वहां न निद्रा है, न दुःख, न भृष्टता, न चिन्ता, न समयबद्ध रात्रि दिवस। ईश्वर प्रेमियों के लिए ईश्वर ने जो चीजें बनाई हैं, उन्हें आँख ने देखा नहीं है, कान ने सुना नहीं, और न ही मानव मन ने उनकी कल्पना की है।

जिसको भ्रष्ट नहीं किया जा सकता, ऐसी प्रकृति उत्पत्ति पर निर्भर नहीं है, वह न बढ़ती है, न सोती है, न भूख अनुभव करती है, न थकती है, न कष्ट उठाती है, न मरती है, उसे कीलों, भालों से छेदा नहीं जा सकता, न उसका पसीना बहता है, न रक्त। वे हमारे जगत के दृश्य व नश्वर प्राणियों से भिन्न अलग ही प्रकार के होते हैं।

I bid P 88

"मुक्ति की नित्यता की स्थिति के विषय में कहा गया है -
वे हमेशा हमेशा के लिए राज्य करेंगे।" Revelation XXII. 5.

प्रत्येक विवरण में सादृश्य आश्चर्यजनक है। इससे हम इतना ग्रहण कर सकते हैं कि सिद्धों की संख्या बहुत है, जबकि तीर्थंकर 24 ही हैं।

किन्तु हम उनसे क्या कहें जो कि सोचते हैं कि जैन धर्म महावीर या पार्श्व के समय अस्तित्व में आया और प्रारम्भ के 22 तीर्थंकर जैनों की कल्पना का परिणाम है? इस प्रकार के कुछ बौद्धिक लोगों ने एक समय जैन धर्म को बौद्ध धर्म की शाखा कहा था। उसका कहना था कि यह ईसा की छठी सदी में अस्तित्व में आया।

किन्तु आज पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता निर्विवाद है। जैनों के वर्णन के विषय में यथार्थ रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि अजैन स्रोत भी 24 की संख्या की पुष्टि करते हैं। हिन्दुओं ने इस तथ्य के विषय में कभी विरोध नहीं किया कि जैनधर्म की स्थापना काल के इस अर्द्धचक्र में ऋषभदेव ने की थी। वे ऋषभदेव का समय विश्वरचना का समय मानते हैं। वे उनके दैवत्व को पूरी तरह मान देते हैं तथा यह स्वीकार करते हैं कि वे सर्वज्ञ थे। उन्हें वे अपने अवतारों में परिगणित करते हैं। वे उनके माता-पिता का वही नाम देते हैं, जो जैन देते हैं। वे इस बात से भी सहमत हैं कि उनका पुत्र चक्रवर्ती भरत था, जिसके नाम पर यह देश भारतवर्ष कहलाया। यह यदि यह इतिहास और ऐतिहासिक सुनिश्चिति नहीं है, तो मैं नहीं समझता कि इन शब्दों से किसकी पूर्ति होगी। खण्डगिरि पहाड़ी पर एक पुराना अभिलेख है, जिसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा की विराजमान करने की बात कही गई है। इसे राजा नन्दवर्द्धन 2400 वर्ष पहले ले गया था, जिसे खारवेल पाटलिपुत्र से कलिङ्ग 2री सदी ई. पूर्व में वापिस लाए थे। इस मूर्ति का काल सम्भवतः महावीर से पूर्व का है और इस बात की भी सम्भावना है कि पार्श्वनाथ से भी पूर्व की हो।

अरिष्टनेमि का नाम वेदों सहित हिन्दू साहित्य में आता है। ये 22 वें तीर्थंकर प्रतीत होते हैं, जिनका नाम अरिष्टनेमि था किन्तु सामान्यतया नेमिनाथ के नाम से जाने जाते हैं। आधुनिक विद्वानों का रूख नेमिनाथ को यथार्थ ऐतिहासिक व्यक्ति, मानने के पक्ष में हो रहा है (देखों एच. भट्टाचार्य का भगवान् अरिष्टनेमि पृ. 88-89)। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख है (देखो - जैनपथ प्रदर्शक III 94-107) किन्तु अरिष्टनेमि और नेमिनाथ की एकता के ऐतिहासिक विवरण नहीं दिया गया है, जिसकी प्रस्थापना अन्य सन्दर्भों से संस्थापित है। हिन्दू शास्त्र प्रभास (स्कन्द) पुराण नेमिनाथ को स्वीकार करता है, जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में सबसे ऊपर दिए गए उद्धरण से स्वीकृत होता है। सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर का एक उल्लेख बौद्धसाहित्य में पाया जाता है, जो बुद्ध के समय राजगृह में सप्पु के मन्दिर के अस्तित्व को दिखलाता है (लार्ड अरिष्टनेमि पृ. 86) ऋग्वेद में स्वयं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का नाम से उल्लेख किया गया है (ऋग्वेद 10. 12. 168) यद्यपि हिन्दू इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि उक्त प्रमाण मिट जाय किन्तु उन हिन्दू विद्वानों की भी कमी नहीं हैं, जो कि ईमानदारी से अनुभव करते हैं कि ऋषभदेव तथा इस ऋषभ की एकता का निषेध नहीं किया जा सकता (हिस्ट्रिकल ग्लीनिंग्स पृ. 76 जैन पथप्रदर्शक, वोल्यूम तृतीय भाग 3 पृ. 106)। यह उल्लेख करना दिलचस्प होगा कि जैन लेखकों ने वेदों के अन्य अनेक उद्धरण दिए हैं जो कि आधुनिक संस्करणों में नहीं पाए जाते। विस्तृत रूप में काट छाँट की गई है। इसे आधुनिक ऐतिहासिक समय में हिन्दुओं की जैनों से शत्रुता जा सकता है।

जैनधर्म के विषय में हिन्दू ग्रन्थों में विविध नामों से सन्दर्भ प्राप्त, होते हैं। अर्हं शब्द प्राचीनतम वेद में अनेक बार आया है। मनुयः वातवसनाः शब्द द्वारा भी जैन साधुओं का उल्लेख किया किया है (ऋग्वेद X. 136-2 तथा इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग XXX पृ. 280)। इसे डॉ. वेबर भी मानते हैं। जैन साधु श्रमण भी कहलाते थे तथा ऋग्वेद में श्रमणों का भी उल्लेख है, हिन्दू यज्ञों में हस्तक्षेप किया ("भगवान पार्श्वनाथ पृ. 21) पुनः अथर्ववेद में उल्लिखित व्रात्यों का सम्प्रदाय जैनों का ही है, अन्य का नहीं। व्रात्य का अर्थ व्रतों का पालने वाला है, जो कि उस समय के हिन्दू यज्ञकर्ताओं से भिन्न लोगों के लिए प्रयुक्त है। एक विद्वान् पं. प्रो. ए. चक्रवर्ती

ने जैन गजट (वाल्यूम 21 भाग 6) में तथा बाबू कामता प्रसाद जैन ने "भगवान पार्श्वनाथ" (देखो भूमिका) में इसका उल्लेख किया है। व्रात्य दो प्रकार के थे (1) साधु और (2) गृहस्थ। अथर्ववेद के 15वें भाग में महाव्रात्य 1 का उल्लेख है जो कि तीर्थंकरों में से एक होना चाहिए और अनुमानतः प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव होना चाहिए। उन्हें पूरे एक वर्ष तक योगमुद्रा में खड़ा हुआ कहा गया है। वे एक वर्ष बाद देवों की प्रार्थना पर उनके द्वारा रचित आसन पर बैठे। देव उनके भ्रमण में भी साथ रहे। जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह वर्णन ऋषभदेव के वर्णन से उल्लेखनीय ढंग से मिलता है। जैनधर्म का योगवत शिष्ठ में प्राप्त उल्लेख कम नहीं है, जहाँ राम स्वयं कहते हैं -

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः ।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा ।।8।।

राम ने कहा मैं राम (योगियों के ध्यान की वस्तु) नहीं हूँ,

1. श्री के. पी. जायसवाल ने माडर्न रिव्यू 1929 (पृ. 499 देखो) में व्रात्यों का निम्नलिखित वर्णन दिया है। लिच्छवी मुजफ्फर पुर जिले के पाटलिपुत्र के सामने राज्य करते थे। वे व्रात्य अथाव अब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। उनकी गणन्त्रात्मक सरकार थी। उनके अपने निजी धर्मस्थल। मन्दिर थे। उनकी पूजा पद्धति अवैदिक थी। उनके अपने धर्मगुरू थे। वे जैनधर्म के संरक्षक थे। उनमें महावीर का जन्म हुआ था। मनु उनकी पतित कहकर निन्दा करते हैं। चन्द्रगुप्त का पुत्र समुद्रगुप्त जिसने कि पूरे अखिल भारती पर साम्राज्य स्थापित कर सम्राट की स्थिति स्वयं प्राप्त की थी, गर्वपूर्वक अपने को लिच्छवियों का दौहित्र कहता है।

न इच्छा से मुक्त हूँ, न मेरा मन पदार्थों में आसक्त है। मैं अपने में ही जिनके समान शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ।

(जिन = विजेता अर्थात् तीर्थंकर)

इससे द्योतित होता है जैन धर्म राम के समय फल फूल रहा था। राम हिन्दुओं की गणना के अनुसार बहुत प्राचीन हैं।

बाह्य प्रमाणों से जैनधर्म की पवित्र परम्परा की पुष्टि आश्चर्य की बात नहीं है। यह पूर्णतः अपेक्षित है, यदि इसकी शिक्षायें यथार्थ में सत्य से तथा जीवों की मुक्ति से सम्बन्धित हैं। दूसरे धर्मों का जैनधर्म से तथा पारस्परिक जो अन्तर है, वह उनकी प्रतीकात्मकता के आश्रय के कारण से है, जैसी कि मेरे तुलनात्मक, धर्म पर किए गए कार्यों में व्याख्या की गई है। सत्य यह है कि बाह्य ढाँचे में भिन्नता है, फिर भी उनका मुख्य भाग एक है। शिक्षायें जैनधर्म के समान ही हैं।

ये जगद्गुरू, जिन या तीर्थंकर पूजा की अपेक्षा नहीं रखते हैं, इन्हें भजन या स्तोत्र से प्रेम नहीं है, ये कोई प्रार्थना स्वीकार नहीं करते हैं तथा ये मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाले देवता नहीं है। उनका धर्म इन सब बातों का निषेध करता है। यदि आप उनसे वरदान चाहते हैं तो वे अन्यत्र जाने को कहेंगे। उनका उपदेश संसार की सारी अच्छी वस्तुओं को छोड़ने का है। वे इन सब वस्तुओं के लिए की गई चिल्लाहट को किसी भी रूप में प्रोत्साहित नहीं करते हैं। जो उनकी पूजा के लिए आते हैं, उन्हें एक दिन संसार से अवकाश लेना होगा। तब कोई कारण नहीं कि जैनी चौबीस तीर्थंकरों को ही मानने का आग्रह करें। एक जगद्गुरू शिक्षा देने के लिए काफी होगा। उसका उदाहरण और पदचिन्ह मनुष्य की आवश्यकता के लिए पर्याप्त होंगे। यदि वर देने या भक्तों की प्रार्थना स्वीकार करने के लिए अधिक देवों को आवश्यकता का सवाल होता

तो जितने अधिक देव होते उतना ही मानव जाति के लिए अच्छा होता। किन्तु यहाँ यह प्रश्न नहीं है। जहाँ तक प्राचीनता की दसक की इच्छा पूर्ति की दृष्टि से प्रारम्भ के 22 तीर्थंकरों के आविष्कार की बात है, प्रथम तीर्थंकर की ऐतिहासिकता हिन्दू धर्म के प्रामाणिक लिखित साक्ष्य से अकाट्य रूप में सिद्ध है। यह कथन प्रतिद्वन्द्वी धर्म का है, अत: जैनों को इस विषय में परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय पुरात्त्व विभाग ने अभी महत्त्वपूर्ण प्रमाण खोज निकाले हैं जिनसे प्रचुर रूप से जैनधर्म का बहुत प्राचीन काल से होना सिद्ध होता है। ये प्रमाण वेद से भी पुराने हैं। मोहन जोदड़ो से बहुत सी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जो अर्द्धनिमीलित नयनों वाली हैं तथा दृष्टि नासाग्र है। ये मूर्तियाँ स्पष्ट रूप ये यह निर्देश देती हैं कि सिन्धु घाटी के लोग Chaloolithic period में न केवल योगाभ्यास करते थे, अपितु योगियों की मूर्तियों की पूजा करते थे।

(The Memoir of the Archeological survey of India)

यह हमें भगवान् ऋषभदेव की उस मूर्ति की तिथि के बहुत वर्ष पहले ले जाता है जिसे नन्दवर्द्धन ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी में ले गया था। ये मानवमूर्तियां जैन स्मृतिशेष होना चाहिए, क्योंकि ये वैदिक धर्म और संस्कृति से बाहर के हैं। ये सब बातें उस बात की पुष्टि करती हैं, जिसे वर्षों पूर्व मेजर, J.G.R. Forlong ने कहा था (देखो "शॉर्ट स्टडीज इनद साइन्स ऑव कम्पैरेटिव रिलीजन पृष्ट 243-244)

1500 से 800 ई. पूर्व और यथार्थ में अज्ञात काल से सारा ऊपरी, पश्चिमी और उत्तरी भारत का शासन तूरानियों जिन्हें हम सुविधा के लिए द्रविड़ कहते हैं, के हाथ में था। वे वृक्ष, सर्प तथा लिंग की पूजा करते थे। किन्तु ऊपरी भारत में एक प्राचीन और संगठित धर्म भी था जो कि दार्शनिक नैतिक और सन्यास प्रधान था। यह जैनधर्म था, जिससे स्पष्ट रूप से ब्राह्मण तथा बौद्धधर्म में प्रारम्भिक सन्यास धर्म विकसित हुआ। आर्य लोगों के गंगा घाटी में या श्रावस्ती में. भी पहुंचने के बहुत पूर्व जैनों को 22 प्रसिद्ध बोध, सन्त या तीर्थंकर दे चुके थे। ये आठवीं या नवमी सदी ई., पूर्व के पार्श्व से पहले हो चुके थे और पार्श्व लम्बे अन्तराल पूर्व हुए इन पूर्ववर्ती पवित्र ऋषियों को जानते थे। उनके विषय में बहुत से शास्त्र थे, जिन्हें पूर्व कहा जाता था, पूर्व = प्राचीन। इन्हें युगों तक वानप्रस्थों ने अपनी स्मृति में सुरक्षित रखा था। यह विशेष रूप से जैन धर्म था, जिस पर बोधों ने बल दिया था और जिसके अंतिम बोध 598-526 ई. पू. के महावीर थे। यह संन्यासी धर्म जैन तथा बौद्धों में अनवरत चलता रहा।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि आधुनिक विद्वानों को अपने तर्क तथा शोध की पद्धति पुनरीक्षण करना चाहिए, यदि ये चाहते हैं कि उनके अनुमान ठोस तथ्यों से मेल खाएं।

❑❑❑

प्रथम् जगद्गुरू

ऋषभं मासमानानां सपत्नानां विषासहिं ।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम् ॥

RigVeda X 12.166

(Tr. O Rudra-Like divinity ! do thou produce amongst us, of high descent, a great God, like Risabha Deva, by becoming Arhan, Which is the epithet of the first world teacher, Let him become the destroyer of the enemies) The Jaind Patha Pradarshaka, III. 3. 106.[1]

तीर्थंकर चौबीस ही क्यों होते हैं ? और सिद्ध जो कि दूसरे मायनों में उन्हीं के समान होते हैं, असंख्यात होते हैं । इसके दो कारण हैं - एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य । 1. सभी प्राणियों को प्रसन्नता, आनन्द और बौधि प्रदान करने (की जो कि इसके अभिलाषी हैं) तीव्र आकांक्षा तथा 2. मनुष्यों और देवों में जगद्गुरू की महिमा गान करने की होड़ ।

जब सर्वार्थसिद्धि के सुदीर्घ जीवन में छः माह अवशेष रहे तब प्रथम स्वर्ग का इन्द्र जो कि इस प्रकार के मामलों में अगुआ होता है, ने अपने अधीनस्थ देवों को आने वाले जगद्गुरु की स्तुतिगान को तैयार होने के आदेश दिए । तब कुबेर ने, (जो कि स्वर्ग के खजाने का मालिक होता है) आने वाले जगद्गुरू के विषय में घोषणा मनु करने हेतु चौहदवें मनु नाभिराज के महल में बहुत बढ़िया रत्न बरसाने प्रारम्भ किए ।

कौशल देश की अयोध्या नगरी नाभिराय के राज्य की राजधानी थी और स्वर्गीय देवों की सलाह पर इसे प्रथम स्वर्ग के राज्य की राजधानी का प्रतिनिधित्व करने के लिए बनाया गया था। कहे अनुसार छः माह तक कुबेर ने आने वाले भगवान् के उपलक्ष्य में उत्सव मनाया । इस अवधि में सारी अयोध्या को उन्होंने स्वयं धन से लाद दिया। यहाँ तक कि बहुत सारे घरों की दीवालें तथा महल कीमती रत्नों से जड़े हुए थे । हर कहीं धन और समृद्धि के चिन्ह थे, गरीबी और गंदगी कहां भाग गई थी, इसे कोई नहीं जानता था ।

सर्वार्थसिद्धि में वज्रनाभि की महान् आत्मा ने अपनी माला की चमक को फीका पड़ते हुए प्रत्यक्ष देखा तथा आने वाले रूपान्तरण के दूसरे त्रुटिरहित चिन्ह देखे, किन्तु इस बार वह उनसे विचलित नहीं हुआ । वह इस बात को जानता था कि यह उसका अन्तिम जन्म होगा, तथा वह जगद्गुरू, ऋषभदेव होगा, जिसे हिन्दू अवतार कहते हैं। उसकी महान आत्मा को अब यदि किसी चीज की अभिलाषा थी तो यही कि वह अपने दैवीय लक्ष्य में प्रवेश करे । अहमिन्द्र के रूप में उसने अपने अवशिष्ट दिन पवित्र धर्मध्यान में बिताए । वह अपने क्षेत्र में स्थित मन्दिर में अरहन्त

---

1. उपर्युक्त सूत्र का यह अंग्रेजी रूपान्तर सुप्रसिद्ध हिन्दू विद्वान् प्रो. विरूपाक्ष बेरियर, वेदतीर्थ, एम. पी. का है ।

भगवान् की पूजा करता था। अन्त में छः माह बाद देव का वैक्रियिक शरीर सभी ओर विकीर्ण हो गया, उतनी ही शीघ्रता से, जितनी शीघ्रता से कि उसका निर्माण हुआ था। अहमिन्द्र की मृत्यु हो चुकी थी। उसी समय राजा नाभिराय की प्रिय रानी ने 16 आश्चर्यजनक स्वप्न देखे। सबसे पहले उसे एक सफेद स्वर्गीय हाथी (ऐरावत) को देखा, जो कि गम्भीर आवाज कर रहा था। अनन्तर उसने एक सुन्दर सफेद बड़ा वृषभ देखा। तीसरे स्वप्न में उसने एक सफेद सिंह देखा, जिसके कन्धे लाल थे। अगले स्वप्न में उसने लक्ष्मी को देखा, उसे दो बड़े हाथी स्वर्ण कलशों से अभिषेक करा रहे थे। मरुदेवी ने अनन्तर सुगन्धित पुष्पों की दो मालायें देखीं, उनकी गन्ध से आकर्षित होकर उनके ऊपर भौंरे मंडरा रहे थे। छठे स्वप्न में उसने ताराओं के समूह से घिरा हुआ पूर्णचन्द्रमा देखा। सातवें स्वप्न में उसने अन्धकार को नष्ट कर आकाश में पूर्व दिशा में गौरवपूर्ण ढंग से उदित होते हुए सूर्य के देखा। आठवें स्वप्न में उसने ऊपर दो बड़े सुनहले कमलों से ढके हुए दो स्वर्णमयी पुष्पपात्र देखे। नवें स्वप्न में एक विभिन्न प्रकार के कमलों से शोभायमान सुन्दर तालाब में क्रीडा करती हुई मछलियों को देखा। अनन्तर उसने एक सुन्दर तालाब देखा, उस तालाब का पानी तैरते हुए कमलों की केसर से पीला पीला हो रहा था, जिससे ऐसा मालूम होता था, मानों पिघले हुए स्वर्ण से ही भरा हो। ग्यारहवें स्वप्न में उसने क्षुभित हो बेला (तट) को उल्लंघन करता हुआ समुद्र देखा। उस समय उस समुद्र में उठती हुई लहरों से कुछ था कुछ गम्भीर शब्द हो रहा था - और जल के छोटे-छोटे कण उड़कर उसके चारों ओर पड़ रहे थे। अनन्तर उसने एक बहुत बड़ा सिंहासन देखा, जिसमें कि चमकीले रत्न जड़े हुए थे। उसका तेरहवाँ स्वप्न एक स्वर्गीय महल का देखना था। चौदहवें स्वप्न में उसने नागेन्द्र भवन को देखा। नागेन्द्र नागकुमार जाति के देवों का स्वामी है। पन्द्रहवें स्वप्न में चमकीले रत्नों की राशि देखी। अन्त में धधकती हुई अग्नि देखी जो कि उज्ज्वल और निर्धूम थी। इन स्वप्नों के बाद उसने एक और स्वप्न देखा, इसमें उसने एक बृहत्काय बैल को देखा, जो कि स्वर्ण के समान चमकीला था और उसके खुले मुँह में प्रवेश कर रहा था।

यह प्रातः काल का समय था, जब कि नाभिराय की गुणी पत्नी ने उपर्युक्त स्वप्न देखों शीघ्र ही वह आनन्द मग्न हो जाग उठी। उसने इन स्वप्नों को बड़े आनन्द के अग्रदूत के रूप में समझा, जो कि उसके जीवन में आने वाला था। उसके बड़े राज्य में कौन ऐसा था, जो कि उस घटना से अपरिचित हो, जो कि अपना स्थान ग्रहण करने जा रही थी।

दैनिक क्रियाओं को सम्पन्न कर, धीरे-धीरे कदम रखती हुई तता आनन्द से भरे हुए हृदय वाली वह राजा के कक्षा में पहुँची। उसने राजा को सभा कक्ष में आसीन पाया। राजा ने अत्यधिक प्रेम से उसकी अगवानी की और वह उसके बगल में सिंहासन पर बैठी। तब उसने अपने आश्चर्यपूर्ण स्वप्न सुनाए, जो कि उसके सौभाग्य को अभिव्यक्त कर रहे थे। नाभिराय यथार्थ में पवित्र और उन्नत आंत्माओं के समान अवधिज्ञान से युक्त थे। वह उन स्वप्नों की व्याख्या उनके मुँह से सुनना चाहती थी। मंत्री तथा अन्य लोग, जो कि उस समय उपस्थित थे वे आश्चर्य तथा असीम आनन्द से भरे हुए थे। नाभिराय ने कहा - हे देवी ! प्रथम स्वप्न उत्त पुत्र के जन्म को अभिव्यक्त करता है। दूसरा स्वप्न कहता है कि वह समस्त लोक में ज्येष्ठ होगा। तृतीय स्वप्न से प्रकट होता है कि वह सिंह के समान शक्तिशाली होगा। मालायें निर्दिष्ट करती हैं कि तुम्हारा पुत्र सही धर्म का संस्थापक होगा। दो हाथियों से देवी लक्ष्मी के अभिषेक का तात्पर्य यह है कि तुम्हारे पुत्र का अभिषेक करने के लिए देव आयेंगे। पूर्ण चन्द्रमा इस तथ्य की भविष्यवाणी करता

है कि शिशु विश्व को आनन्द प्रदान करने वाला होगा। अगले स्वप्न से यह समझना चाहिए कि वह सूर्य के समान भास्वर होगा। मीन युगल पुत्र के द्वारा अनुभूत सुख को सूचित करता है। तुमने स्वप्न में जो बड़ा तालाब देखा उससे स्पष्ट है कि वह सभी अनन्त उत्तम गुणों से सम्पन्न होगा। समुद्र भविष्यवाणी करता है कि वह जगद्गुरू होगा तथा देवों का अधिपति होगा। स्वर्गविमान को जो कि तुमने आते हुए देखा, उसका फल यह है कि वह जन्म लेने के लिए स्वर्ग से आ रहा है। नागेन्द्रभवन का दृश्य यह दिखलाता है कि वह जन्म से अवधिज्ञानी होगा। चमकते हुए रत्नों की राशि सूचित करती है कि उसमें सभी दैवीय गुणहोंगे। तुमने जो निर्धूम अग्नि देखी, वह सूचित करती है कि वह उन कर्मों के समूह को जलाएगा, जिनसे आत्मा बद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करती है। इन स्वप्नों के अतिरिक्त जो तुमने स्वप्न देखा वह श्री ऋषभदेव जी तुम्हारे गर्भ में आ चुके हैं।

इस प्रकार नाभिराय ने अपनी प्रिय रानी से उसे स्वर्गिक स्वप्नों के रहस्य को बतलाया। नाभिराय का आनन्द उनके हृदय में समा नहीं रहा था। उनके जिन साथियों ने इन सब बातों को सुना, वे बहुत अधिक आश्चर्यान्वित थे। वे सब प्रसन्नता और आनन्द से पूरी तरह भरे हुए थे।

राजधानी में चारों ओर इस खुशखबरी की घोषणा जय जयकार के साथ सुनी गई। अपनी बड़ी खुशी को अभिव्यक्त करने के लिए चारों ओर गलियों के किनारों पर लोग इकट्ठे हो गए। वे एक दूसरे को बधाई दे रहे थे। वे महारानी को शुभकामनायें दे रहे थे। तत्क्षण स्वर्गीय संगीत के राग से ने नाभिराय की राजधानी के निवासियों के कान गूँज गए। एक बहुत बड़ी उठती हुई गुनगुनाहट की आवाज सुनाई पड़ी। वैक्रियिक शरीरों से आकाश में मानों अन्धकार छा गया। यह देवों का समुदाय था, जो कि इस महान् घटना पर उत्सव मनाने हेतु आ रहे थे। वे उस रानी मरुदेवी के गर्भ की उत्तमता को जानने के लिए आए थे, जिसमें कि जगद्गुरू आए थे। वे शीघ्र ही भगवान् की माता के प्रति विनय प्रदर्शित करने के लिए चले।

अयोध्या में उस दिन बहुत उत्सव मनाए गए। शान शौकत इस प्रकार की थी कि जिसको अयोध्यावासियों ने स्वप्न भी नहीं देखा था। राजसभा में रत्नों के सिंहासन पर भगवान् के माता-पिता विराजमान किए गए और सभी रूपों में पूर्ण भक्ति के साथ उनकी पूजा की गई। मर्त्यलोक बहुत समय से अमरत्व के लिए लालायित था और उनका उत्साह शीघ्र ही उसके आने की प्रत्याशा में उत्साहित था, जो कि अमरता का मार्ग दिखाने वाला था। उसमें क्या आश्चर्य था कि देव मनुष्यों के साथ मिलकर उस महान् घटना पर उत्सव मनाने आए। देव स्वयं मरणधर्मा हैं और मृत्यु के आगमन को हम लोगों से अधिक पैनी दृष्टि से देखते या अनुभव करते हैं। क्योंकि उनके पास गँवाने को बहुत कुछ होता है।

आज हमें यह आश्चर्य होता है कि देव हमें देखने पृथ्वी पर क्यों नहीं आते हैं किन्तु आज वे यहाँ किसे देखने आयें ? पृथ्वी पर ज्ञान, शक्ति या महानता में उनसे अधिक श्रेष्ठ कौन है ? क्या वे बूचडखाने, मांस की दूकानों, बदबूदार रसोईघरों तथा दुर्गंधयुक्त रेस्तरां की गन्ध सूंघने के लिए आयें ? क्या आप उन्हें अज्ञानी पुरोहितों, कलङ्की आत्मसन्तुष्ट अत्याचारी शासकों, झूठ बोलने वाले राजनीतिज्ञों, बेईमान व्यापारियों, राजाओं तथा बादशाहों (जो कि न अपने शब्दों का आदर करते हैं, न हस्ताक्षरों का) के लिए यहाँ बुलाना चाहते हैं। देवों के अत्यधिक सुकुमार इन्द्रियां होती हैं, संसार के शौचगृह तथा गन्दे नालों की हौदी की बदबू उनके लिए अत्यधिक जी मचलाने

वाली होगी। किसी से भी जानबूझकर ऐसे वातावरण में घूमने की आशा नहीं कर सकता जो गन्दगी और बदबूदार हो, जब तक कि कोई अच्छा और अभीष्ट गुणों से युक्त कारण न हो। देव अवश्य आते हैं, जब कोई पर्याप्त कारण होता है, जैसे - जगद्गुरू की भक्ति करने को, किन्तु वे भ्रष्टाचार तथा गन्दगी के वातावरण में प्रवेश नहीं करेंगे।

क्या देवों का अस्तित्व है ? यथार्थ में वे हैं। यदि वे न होते तो विश्व के शास्त्र देव जीवन के वर्णनों से भरे न होते। जैन देवों के अस्तित्व के सम्बंध में इतने युगों तक छले नहीं जा सकते थे। कहीं दूसरों को प्रभावित करने के लिए तो कथाओं का आविष्कार कर लिया गया ? (इस पर हमारा कहना है कि) कौन इस प्रकार की कल्पना से प्रभावित हो सकता था, जो पूरी तरह झूठ हो ? जैन सर्व प्रथम अपनी मुक्ति की खोज करते हैं, जो कि उन्हें तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि वे इस प्रकार के झूठ का अपराध न स्वीकार कर लेते और पर्याप्त तप न करते। हमें ईमानदारी से यह मान लेना चाहिए कि संसार में बहुत सी आश्चर्यजनक वस्तुयें हैं जिनमें से अधिकांश के विषय में हम अज्ञ हैं। अन्धी चीटी शायद यही कल्पना कर सकती है कि जीवन की श्रृंखला कुछ जाति के कीटाणुओं, तथा किन्हीं प्रकार के बड़े पशुओं तथा मनुष्यों में ही है। किन्तु क्या हम कह सकते हैं कि पृथ्वी की तरह दूसरे ग्रहों पर जीवन नहीं है ? यह अन्तरिक्ष के दूसरे क्षेत्रों में शरीर, क्रियाओं तथा ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति में कोई अन्तर नहीं हो सकता ? प्राचीन लोगों के प्रमाण इस स्थिति में विन्दु निर्धारण के लिए अत्यधिक पर्याप्त हैं, विशेष रूप से जबकि हम इसे सुदृढ़ रूप में इस तथ्य द्वारा निश्चित पाते हैं कि तीर्थंकरों की संख्या के परिसीमन की कोई अन्य व्याख्या नहीं हो सकती, सिवाय इस मान्यता के कि तीर्थंकरों के कल्याणक मनाने के लिए देव आते हैं तथा आर्यसत्यों के प्रचार के लिए समवसरण की रचना करते हैं।

❑❑❑

जन्म तथा बचपन

नाभे निसर्गं वक्ष्यामि हिमाह्वेऽस्मिन्निबोधत् ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरूदेव्यां महाद्युति ॥59॥
ऋषभपार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद्भरतो जरो वीरः पुत्रशताग्रजः ॥60॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्रव्रज्यया स्थितः ।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत् ॥61॥

मैं नाभि के वंश के विषय में कहूँगा, उन्हें हिम नाम देश में फला फूला या समृद्ध हुआ जानो । उन्होंने मरुदेवी में महाद्युतिवान् ऋषभ नाम पुत्र को प्राप्त किया जो कि राजाओं में श्रेष्ठ तथा समस्त क्षत्रियों के पूर्वज थे । ऋषभ से भरत उत्पन्न हुए जो कि एक सौ पुत्रों में सबसे बड़े तथा वीर थे । ऋषभदेव ने संसार त्याग की भावना में स्थित हो अपने पुत्र भरत को हिम नाम देश दे दिया, जो कि दक्षिण में है । ब्रह्माण्ड पुराण (हिन्दू) 14-59-61

आषाढ़ कृष्ण द्वितीय की रात्रि का यह अंतिम प्रहर था जब कि नाभिराय कुलकर की प्रसिद्ध रानी मरुदेवी के गर्भ में जगद्गुरू आए । उस समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र था । प्रातः उत्सव मनाए गए। जैसा कि हम अब तक देख चुके हैं । प्रथम स्वर्ग के अधिपति की आज्ञा से भगवान् की माता की सेवा करने के लिए बहुत सी देवाङ्गनायें आई । वे मरुदेवी की सदैव सहायक रहीं तथा उन्हें प्रसन्न चित्त रखा ।

जगद्गुरु में कुछ भिन्नता है, जो कि उन्हें शेष मानवों से भिन्न करती है । ऋषभदेव की गर्भ में वृद्धि भी बहुत सारे आश्चर्यजनक चिन्ह से युक्त थे । माता के शरीर में प्रत्यक्ष रूप गर्भ के कोई चिन्ह नहीं थे । वह सब सब समयों प्रसन्नचित्त थी । तथा मेधा, जो कि पहले से ही तीक्ष्ण थी, दैवी शिशु की गर्भ में वृद्धि के साथ बढ़ती गई । उत्पन्न होने वाले महान वीर की माता ने दर्पण में अपना मुख देखने की उपेक्षा कर तलवार की चमक में अपना चेहरा देखना प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार गर्भावस्था के नौ माह सात दिन व्यतीत हुए । भगवान ऋषभदेव का जन्म बहुत से आश्चर्यजनक लक्षणों से युक्त था । दिशायें निर्मल थीं, शान्ति की एक लहर पूरे ब्रह्माण्ड में दौड़ गई । जन्म के क्षण नारकियों को सुखानुभूति हुई । इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो गए जैसे बेतार की अदृश्य तंरगों से हिला दिया गया हो ।

पुनः देव भगवान का जन्मोत्सव मनाने के लिए मनुष्यों के साथ मिल गए । वे राजभवन में एकत्रित हो गए । उन्होंने पृथ्वी और आकाश को भर दिया । तथा अनवरत रूप से जय जय

शब्द का उच्चारण करने लगे। तब प्रथम स्वर्ग के इन्द्र की इन्द्राणी ने नवजात शिशु को अपने हाथों में लिया तथा उन्हें अपने पति को सौंप दिया। उन दोनों ने एक साथ अभिषेकोत्सव प्रारम्भ किया, समस्त देव जाति और वंश उनका अनुसरण कर रहे थे। मेरू पर्वत पर बहुत बड़ी शिला है, जिस पर भगवान के अभिषेक का उत्सव होता है। देवों का जुलूस शीघ्र ही इस शिला पर पहुँचा और वहाँ पर अत्यधिक उल्लास के साथ दैवी अभिषेक किया। उन्होंने दैवी शिशु को एक सिंहासन पर बैठाया। उस सिंहासन पर रत्न जड़े हुए थे तथा उनके सिर के ऊपर बहुत दूर के सागर (क्षीरसागर) का जल डाला। अभिषेकोत्सव के नन्हे दैवी शिशु को कोई हानि नहीं हुई। उन सबका, जिन्हें मुक्ति प्राप्त होनी है अपने अन्तिम पार्थिव जन्म में हृष्ट-पुष्ट शरीर और अटल शक्ति होती है। वे किसी भी रूप में क्षत विक्षत नहीं हो सकते हैं। यह उन बड़े तपों का प्रभाव होता है, जो उन्होंने पिछले जन्मों में किए हैं। तीर्थंकरों का भी सुदृढ़ शरीर होता है, उनके अस्थि पंजर हृष्ट पुष्ट होते हैं और बाहरी भौतिक शक्तियों या विपत्तियों का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

अभिषेक के बाद शची ने त्रैलोक्याधिपति को अपने हाथों से सजाया। भगवान को बहुत से स्वर्गीय आभूषण पहिनाए गए। अनन्तर उत्सवकर्ता नाभिराज के महल को लौटे। महल में बड़े-बड़े उत्सव हुए। देवों ने नाट्य किए। उस दिन मर्त्यलोक के मनुष्यों ने उत्तम गीत सुना और अभिनय देखा। इन्द्र ने आनन्द से भरकर सुन्दर नृत्य किया, जिससे सभी आनन्दित हुए। एक ऐसे शरीर का अधिपति, जिसकी सभी इच्छाओं का शरीर अनुवर्ती है, का नृत्य स्वयं एक आश्चर्य था। अपनी हलन चलन के मध्य उसने अनेक रूप बनाए, प्रत्येक शेष की अपेक्षा आश्चर्यजनक था। इस प्रकार का आनन्द रूप बनाए, प्रत्येक शेष की अपेक्षा आश्चर्यजनक था। इस प्रकार का आनन्द और खुशी अयोध्या में पहले कभी नहीं सुनी गई।

जब स्वर्ग के देव चले गए तो कुछ देव भगवान् की देखरेख हेतु रहे गए। उन्होंने अपने आपको बच्चों के रूप में परिवर्तितकर लिया और ऋषभदेव के क्रीडा सखा हो गए तथा प्रत्येक सम्भव रूप में उनकी देखभाल करने लगे।

शिशु तीर्थंकर जन्म से ही अवधिज्ञानी थे तथा उन्हें सभी प्रकार की कला और विज्ञान की जानकारी थी। उन्हें ज्ञान के लिए किसी के निर्देश की आवश्यकता नहीं थी। उनमें सभी सद्गुण थे। मल, मूत्र, थूक या इस प्रकर के अन्य पदार्थ उनके शरीर मे नहीं बनते थे। उनका खून दूध के समान, सफेद था, उनके शरीर से अच्छी सुगन्ध आती थी। उनके व्यक्तित्व में सन्तपने तथा महानता के सभी चिन्ह वर्तमान थे। बचपन से ही उनकी इच्छायें बहुते कम थी वे सन्तों के समान एकान्तप्रिय थे। यदि उनके पिता की अभिलाषा न होती तो वह शायद शादी से इंकार कर देते। नाभिराय ने उनसे कहा था – हे भगवान्। आप यथार्थ में तीनों लोकों के पिता हैं, क्योंकि आप सभी प्राणियों के गुरु है। मेरे तो तुम्हारा पिता होने का मात्र नियोग है। विवाह संस्कार की स्थापना के लिए प्रसन्न होइए, ताकि मानव जाति इस विषय में गलत रास्ते पर न चली जाय और पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य पालन करने में असमर्थता से दुःख में न आ पड़े। इस प्रकार संबोधित किए जाने पर ऋषभदेव ने मौनपूर्वक थोड़ा मुस्कराकर ओम कहकर स्वीकृति दे दी।

दो निपुण तथा सुन्दर कन्यायें जो कि कच्छ तथा महाकच्छ भाईयों की बहिनें (दूसरे कथन के अनुसार पुत्रियाँ) थीं शीघ्र ही ऋषभदेव के लिए प्राप्त कर लीं। शुभ नक्षत्र में उनके साथ ऋषभदेव का विवाह हुआ। नक्षत्र यथार्थ में स्वयं न तो सौभाग्यशाली होते हैं, न दुर्भाग्यशाली, किन्तु वे सौभाग्यशाली तब माने जाते हैं, जब इस प्रकार बड़ी घटनाओं के साथ उनका योग होता है, जैसे कि जगद्‌गुरू के जीवन में (विवाह की घटना) सीमाचिन्ह बन गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जगत् के कार्यों में ताराओं की अपनी भूमिका होती है, क्योंकि दूसरी वस्तुओं के समान उनका प्रभाव पड़ता है तथा प्रकृति में दूसरी वस्तुओं से प्रभावित भी होते हैं। किन्तु महान् पुरुषों को इन नियमों का अपवाद मानना चाहिए, क्योंकि वे दुर्भाग्य से परे होते हैं।

❑❑❑

पारिवारिक जीवन

हिमाह्वयन्तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभो ऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।

हिम नामक वर्ष (क्षेत्र) में महात्मा नाभि थे, उनके मरुदेवी से ऋषभ नामक महाद्युतिवान् पुत्र हुआ। ऋषभ से भरत उत्पन्न हुआ जो कि वीर था और सौ पुत्रों में अग्रज था।कर्मपुराण (हिन्दू) LXI 37-38

श्रीमती यशस्वती देवी ऋषभदेव जी की बड़ी रानी थी। एक रात्रि उसने गर्भ धारण किया तथा चार आश्चर्यजनक स्वप्न देखे। सबसे पहले उसने विशाल मेरू को देखा, जिसने सारे संसार को ग्रसित कर लिया। अनन्तर उसने सूर्य, चन्द्रमा तथा मेरू पर्वत देखा। इसके बाद श्वेत हंसों सहित एक सरोवर देखा तथा सबके अन्त में एक समुद्र देखा, जो कि लहरों से क्षुब्ध हो रहा था अगले दिन उसके पति ने इन स्वप्नों की व्याख्या की और तात्पर्य बतलाया कि उसका पुत्र सारे संसार का स्वामी होगा, वह महान गौरव और प्रभुत्व की तड़क भड़क से युक्त होगा। उसमें समस्त उत्तम गुण होंगे तथा वह इसी जन्म से मोक्ष प्राप्त करेगा। अपने प्रख्यात पति से अपने होने वाले पुत्र के विषय में उपर्युक्त वर्णन सुनकर यशस्वती प्रसन्नता से भर गई।

समय पूर्ण होने पर कृष्ण नवमी के जिस दिन ऋषभदेव जी का जन्म हुआ था, उसी दिन उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय चन्द्रमा उत्तराषाढ़ नक्षत्र पर था। ऋषभदेव ने उसका नाम भरत रखा। भरत सर्वार्थसिद्धि विमान में ऋषभदेव का साथी अहमिन्द्र था। उसका पहले का इतिहास जबकि वह बज्रजंघ का मन्त्री मतिवर था, पूर्व से ही ज्ञात है, किन्तु कुछ जन्मों पूर्व वह जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र की वत्सकावती नगरी का राजा अतिगृद्ध था। वह अत्यधिक इन्द्रियासक्त था तथा रौद्र ध्यान से (अत्यधिक बुरे विचारों में मग्न होकर) मरा था। उसने अपने आपको चौथे नरक में गिरा हुआ पाया। वहां वह बहुत लम्बे समय तक रहा, अनन्तर सिंह हुआ। एक दिन उसने पिहितास्रव मुनि देखा। उनको देखकर उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो आई। वह भय से भर गया तथा शीघ्र ही ज्ञान से संयत हो गया। उसने उसी क्षण से बुराई से दूर रहने का संकल्प किया। उसने फौरन ही सब प्रकार के भोजन का परित्याग कर दिया और (शास्त्र से) अनुमोदित मार्ग से मरा। इसका परिणाम यह हुआ कि वह द्वितीय स्वर्ग में देव हुआ। उस समय ललिताङ्ग भी वहीं था। दोनों की आयु साथ ही पूर्ण हुई। उस समय जो मित्रता हुई थी, वह जारी रही और इसके बाद वृद्धि को प्राप्त हुई, क्योंकि वह अपने अगले जन्म में ललिताङ्ग का मन्त्री

हुआ, जो कि बज्रजंघ के रूप में पुन: जन्मा था। इन महान् आत्माओं के बाद का इतिहास हम पहले से ही जानते हैं तथा उनके कुछ घनिष्ठ साथियों के विषय में भी जानते हैं ।

भरत का जीवन संसार परिभ्रमण के बीच के उतार चढ़ावों के लिए विशुद्ध उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है । यहां पर किसी को भी कोई विशेष सुविधायें प्राप्त नहीं है । क्रूर भाग्य किसी का पक्ष नहीं लेता है । दुर्भाग्य और अनिष्ट से कोई सुरक्षित नहीं है । राजा नरक में चले जाते हैं, जबकि डरावने पशु देव हो जाते हैं । यथार्थ में मिथ्यात्व से बड़ा कोई शत्रु नहीं है और सम्यक्त्व से बड़ा सहायक कोई मित्र नहीं है।

ऋषभदेव बहुत अधिक वर्षों तक रहे । यशस्वती से उनके सौ पुत्र हुए । हिन्दू शास्त्र भी इसको यथार्थ प्रमाणित करते हैं । भरत के बाद पहले वृषभसेन थे, जिनसे हम वज्रजंघ के पुरोहित आनन्द के भव में हम पहले ही मिल चुके हैं । वह भी सर्वार्थसिद्धि विमान में थे ।

धनमित्र का जीव, जिसे हम बज्रजंघ के श्रेष्ठी के रूप में स्मृत करते हैं, यशस्वती और ऋषभदेव का अगला पुत्र था । उसका नाम अब अनन्त विजय था ।

पशुओं का खूंखार अधिपति जो कि एक जैन मुनि को आहार दिए जाते देखकर आनन्द से भर गया था, वह अब जगद्गुरु के पुत्र के रूप में जन्मा । वह अनन्तविजय से छोटा था और उसका नाम महासेन है ।

सुअर का जीव इसी परिवार में श्रीषेण (अच्युत नाम भी है) के रूप में जन्मा।

बन्दर का जीव अब वीर (गुणसेन नाम भी है) हो गया । नेवला वरवीर के रूप में जन्मा। ऋषभदेव तथा यशस्वती के पूर्व जन्मों के साथी और मित्र, जिनका यहां इतिहास नहीं दिया गया है, ने इसी परिवार में तीर्थंकर की बड़ी रानी से शेष 93 पुत्रों के रूप में जन्म लिया । उसने एक पुत्री को भी जन्म दिया जिसका नाम ब्राह्मी था ।

अपनी दूसरी पत्नी सुनन्दा से ऋषभदेव के एक पुत्र और एक पुत्री हुई । पुत्र बाहुबली था जो कि बज्रजंघ के सेनापति अम्पन के सिवाय दूसरा न था जिससे हम सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान में मिले थे । पुत्री का नाम उसके पिता ने सुन्दरी रखा । बाहुबली इस युग में पहले कामदेव थे । वह अतिशय सुन्दर थे तथा अत्यधिक उत्तम और आकर्षक गुणों से युक्त थे । निपुणता में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था ।

जैसे ही पुत्र और पुत्रियाँ बड़े हुए, उनके पिता जगद्गुरू ने उन्हें उचित शिक्षा दी। वे सारे विज्ञान और कलाओं को बिना सिखाए ही जानते थे । उन्होंने अपनी पुत्रियों के लिए अक्षर लिखे और उन्हें अङ्कों की भी शिक्षा दी ब्राह्मी के नाम पर ब्राह्मीलिपि कहलाई, क्योंकि इन्हें सीखने वाली वह प्रथम थी । जगद्गुरु की पुत्रियाँ अत्यधिक मेधावी सिद्ध हुई और अपना पाठ तेजी से याद कर लेती थी । उचित समय पर समस्त गार्ह स्थिक मामलों में वे निपुण हो गई । उन्होंने विविध कला और विज्ञानों तथा उनके पिता जिन कार्यों में निपुणता प्राप्त कराना चाहते थे, उनमें निपुणता प्राप्त कर ली । संगीत तथा गीत स्वाभाविक रूप से उनकी प्राप्तियों में जुड़े थे । वे धर्म विज्ञान को भी भली भांति समझती थी । वे विश्व के परिवर्तनशील स्वभाव से अत्यधिक प्रभावित थी अत: उन्होंने कभी भी विवाह न करने का निश्चय कर लिया । माता-पिता की ओर से भरत की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया । अपने भाईयों के साथ उसे दूसरी बातें सिखलाई गई, किन्तु

जगद्गुरु ने उन्हें विशेष रूप से कानून तथा राजनीति सिखलाई। भरत ने नृत्य के प्रति भी अपनी रूचि दिखलाई। वे कला में अत्यधिक सक्षम हो गए। भरत के छोटे भाईयों में वृषभसेन संगीत में अनन्तवीर्य नाटक में, बाहुबली औषधिविज्ञान, धनुर्विद्या, बागवान तथा कीमती जवाहरातों के ज्ञान में, श्रेष्ठ थे। बाहुबली पुरुष और स्त्री के शारीरिक लक्षणों से उनके चरित्र को पहिचानने में कुशल थे।

विकासवादी इन विज्ञप्तियों को आसानी से स्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु वे यह नहीं बतला सके हैं कि मनुष्य यदि वृक्षों की डाल पर गोरिल्ला तथा चिम्पान्जियों के साथ गपशप करता था, तो केवलज्ञान कैसे प्राप्त करता ? बहुत प्राचीन काल के प्रागैतिहासिक युग में धर्म वैज्ञानिक दृष्टिकोण का बाना कैसे पहिनता। आधुनिकज्ञों को यह स्वस्थ सलाह दी जा सकती है कि वे अपने बौद्धिक पुस्तकालय के भार को छोड़कर कम से कम दो वर्ष उन ग्रन्थों का अध्ययन करें, जिनमें धर्म को विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तब संभवत: वे विषय के ऊपर बातचीत करने के योग्य होंगे तथा उनका अभिमत भी कम वजनी नहीं होगा।

सार्वजनिक जीवन

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम संश्रयः
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥
भरतस्यान्वभूत्पुत्रः सुमतिनमि धार्मिकः ॥

ऋषभ के पुत्र भरत थे। ऋषभ ने भरत का राज्याभिषेक किया तथा सन्यास ले लिया तथा वानप्रस्थ आश्रम के नियमों का दृढ़ता से पालन करते हुए उन महाभाग्यशाली ने तप किया। भरत के पिता ने दक्षिण का हिम नामक देश उन्हें प्रदान किया। अतः उसके (भरत के) नाम पर उसका नाम भारतवर्ष पड़ा। भरत का एक धार्मिक पुत्र था, जिसका नाम सुमति था। मार्कण्डेय पुराण (हिन्दू) 39-41

भोग भूमि के कल्पवृक्ष उस समय तक पूरी तरह लोप हो गए थे। प्राकृतिक कृषि से बढ़ती हुई आबादी को पर्याप्त भोजन प्राप्त नहीं हो रहा था। अतः ऋषभदेव ने उन्हें कृषि (गन्ना तथा अन्य अनाजों की खेती) तथा अन्य लाभदायक शिल्प और कलाओं की शिक्षा दी। उन्होंने नागरिक जीवन की आधारशिला रखी और मनुष्यों को यह सिखलाया कि पारस्परिक लाभ के लिए किस प्रकार एक दूसरे के साथ सहयोग करना चाहिए। देश प्रान्तों में बांटा गया, तथा प्रान्तों को खण्डों और जिलों में तथा जिलों को नगर और गांव में बांटा गया। नागरिक जीवन पर शासन करने तथा उसे नियमित बनाने के लिए राजा और मुखियों को नियुक्त किया गया। इन सब कार्यों में ऋषभदेव के देव सहायाक हुए, जिनकी सलाह बहुत मूल्यवान् थी।

व्यवसाय तथा शिल्प जिनकी शिक्षा दी गई थी के अन्तर्गत असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प (जैसे बढ़ईगिरी, स्वर्णकारी आदि) तथा कलायें जैसे गीत, नृत्य तथा चित्रकारी समाहित थी।

जो लड़ते थे वे क्षत्रिय कहलाए, व्यापारियों को वैश्य नाम मिला, सेष पहले जघन्यज (छोटे) बाद में अवर (सबसे छोटे या अन्तिम) तथा अन्त में शूद्र कहलाए। सबसे पहले वैश्यों को भी भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया जैसे - आर्य (सज्जन) तथा वणिक (व्यापारी)। उस समय ब्राह्मण नहीं थे सभी को साहित्य का अध्ययन करने की छूट थी तथा कोई भी शिक्षा से बहिष्कृत नहीं था। शूद्रों में वे सब सम्मिलित थे, जो अपनी जीविका अपने हाथ से किए गए परिश्रम या हस्तकला से चलाते थे तथा जो क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करते थे। जो कुश्ती लड़ा करते थे वे भी शूद्रों में परिगणित थे।

जिस तिथि को यह व्यवस्था बनाई गई आषाढ़ कृष्ण एकम थी। इस दिन कर्मभूमि या सृष्टि (वस्तु व्यवस्था) का आरम्भ हुआ।

अब मनुष्य प्रसन्न थे तथा क्षेत्रों में समृद्धि का शासन हो गया। वे मनुष्य जगद्गुरु के प्रति (जो कुछ उन्होंने उनके लिए किया था) अत्यधिक कृतज्ञ थे। वे उनकी प्रशंसा करते हुए कभी थकते नहीं थे।

इसके कुछ समय बाद नाभिराय ने ऋषभदेव को राजसिंहासन पर बैठाया तथा सक्रिय राजत्व से स्वयं अवकाश ग्रहण कर लिया। पुनः बहुत बड़े उत्सव हुए, जिसमें देवों ने भाग लिया।

राज्याधिरोहण हुए कुछ ही समय बीता था कि जगद्गुरू ने वर्णव्यवस्था के रूप आर्यों के स्थायित्व की आधारशिला रखी। तीन वर्ण (चार नहीं) बनाए गए संक्षिप्त रूप में उन्हें सेना, व्यापारी तथा श्रमिकों के रूप में वर्णित किया जा सकता है। यह प्रथा राजनैतिक दृष्टि से अस्तित्व में आई, अन्य किसी कारण नहीं। यह केवल तीन अङ्गो वाली अनिवार्य सैन्यभर्ती थी। एक वर्ग आन्तरिक या बाह्य युद्ध अथवा व्यवस्था बनाए रखने के लिए स्थापित किया गया। दूसरा व्यवसाय करने के लिए तथा तीसरा नौकर चाकरों, सामान ढोने वालों तथा शिल्प और कला के जानकारों की आवश्यकता में गड़बड़ी को रोकने के लिए स्थापित किया गया। युद्ध के समय विशेष रूप से ये समय समाज के कार्य संचालित करने होते हैं जैसा कि पिछले यूरोपीय युद्ध (1914-18 का) के यथार्थ अनुभव में पाया गया। सामान्य अनिवार्य सैन्य भर्ती के नियम में बड़ा लाभ है। अनिवार्य सैन्य भर्ती का सम्बन्ध केवल मनुष्य शक्ति से होता है बजाय इसके कि सेना और श्रमिकों का भरण पोषण कौन करेगा? जिसके बिना कोई व्यावहारिक कार्य असम्भव है, विशेषकर तंगी के समय। दूसरी बात यह है कि सामान्य अनिवार्य सैन्य भर्ती मनुष्य शक्ति की समस्या के भौतिक पक्ष का ही ध्यान रखती है, यह मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने के योग्य नहीं है, जिसे कहना चाहिए कि सैनिक के हृदय में सही सैन्य भर्ती की स्थापना करने योग्य नहीं है। जगद्गुरु ने जो अनिवार्य सैन्य भर्ती स्वीकार की उसमें यह उसी समय व्यापार या श्रम का प्रावधान रख दिया, जिसमें प्रत्येक सैनिक को वीर बनने की प्रेरणा मिल सके। सामान्य भर्ती में अधिकांशतः वंश परम्परा के अभाव के कारण जिस क्षत्रिय भावना की कमी रहती है, वह क्षत्रिय वर्ग में जन्म लेने मात्र से घर पर ही बचपन से विकसित हो जाती है, इस वर्ग में इतना गरीब कोई भी नहीं जो अपनी कल्पना को प्रज्वलित करने के लिए कोई न कोई महान वंश परम्परा न रखता हो।

ब्राह्मणों का इस कार्य योजना में यथार्थ में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि बहुत पहले शिक्षा पर किसी एक वर्ग का एकाधिकार नहीं था साहित्यिक शिक्षा ग्रहण करने का किसी को निषेध नहीं था।

वर्णव्यवस्था का लाभ बड़ा है। इसने बीते हुए युगों में अनार्य देशों में आर्य संस्कृति को युद्ध और साम्राज्यों के टकराव से ऊपर गर्व से सिर उठाकर रहने योग्य बनाया।

पूरे संसार में कोई भी देश संस्कृति का वैसा स्थायित्व नहीं दिखला सका, जैसा कि आर्य जाति ने।

आधुनिक ऐतिहासिक समय में आर्य जाति के पतन का कारण यह है कि क्षत्रिय अपनी परम्परायें कायम रखने में असफल रहे। वे अक्खड़पन से भरे हुए थे और मातृभूमि की रक्षा की अपेक्षा आपस में लड़ रहे थे। उन्होंने उस व्यवस्था को खो दिया, जिसका बीज मित्रता पूर्ण व्यवहार

और अच्छा साहचर्य था जिसका परिणाम यह हुआ कि वे शक्तिशाली विदेशी शत्रुओं के विरुद्ध एकत्रित नहीं हो सकते और अकेले काट डाले गए । उनमें अन्धविश्वास भी था, जिसके लिए पूरे हृदय से ब्राह्मण दोषी ठहराए जाने चाहिए, क्योंकि वे अध्यात्म विज्ञान के पूर्ण परिरक्षक थे। उन्होंने अच्छे सेनानायकत्व के नियमों की प्राय: उपेक्षा की तथा वे शत्रु के प्रति गमन करने से पहले नक्षत्र की स्थिति देखते रहे । आर्य साम्राज्य के ह्रास में दुराग्रह या कट्टरता की भावना का भी भाग रहा । प्राय: कर सेनानायक निरन्त सैन्य नीति के नियमों को आवहेलना करते रहे तथा अपना एवं अपने सैनिकों के जीवन का एकदम पागलपन के साथ बलिदान करते रहे । आर्य साम्राज्य के नष्ट होने में एक दूसरा कारण अनुभवों का लाभ उठाने की असफलता है । विदेशी आक्रान्ता प्राय: अपनी किसी भी बात पर दृण न रहने का उदाहरण देते रहे उन्हें विजय की प्राप्ति में कोई नैतिक संकोच नहीं था, जबकि उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार किया गया कि वे आर्यों की धर्मभीरूता या सही सैन्य सम्मान की भावना से ओतप्रोत हैं ।

क्या इस अभागे देश में आर्य संस्कृति का गौरव पुन: स्थापित हो सकेगा 1? भारत ब्रिटिश राज्य में बराबर का भागीदार हो सकता है यह वह पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है, किन्तु यह, सोचना असम्भव प्रतीत होता है कि हम देश में अवाञ्छनीय बातों, रीति रिवाजों अपने मध्य जो प्रथायें स्थापित कर रखी है उनसे मुक्त हो सकेंगे । इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म चमत्कारों की प्राप्ति में सक्षम है । यदि सार संसार सत्य की शिक्षाओं को स्वीकार कर रहना प्रारम्भ करता है तो वस्तुओं की आकृति तत्काल बदल जायगी, जैसे जादूगरों ने छड़ी चला दी हो । लेकिन यह करने की अपेक्षा कहने में ज्यादा सरल है ।

(1. यह ग्रन्थ वैरिस्टर सा. ने भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व लिखा था ।)

हिन्दू कहते हैं कि वे जाति प्रथा के संस्थापक थे, किन्तु इसका जो वे विवरण देते हैं वे इसकी उत्पत्ति की आवश्यकता की व्याख्या करने में असफल रहते हैं । उनकी कल्पना की प्रकृति पौराणिक है उनके अनुसार ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से क्षत्रियों की उसकी भुजाओं से, वैश्यों की उसके उदर से तथा शूद्रों की उसकी जंघाओं से उत्पत्ति हुई । इसका फल यह होता है कि एक वर्ग दूसरे वर्ग से रक्त सम्बन्ध की हीनता के कारण घृणा करने लगता है । इसके विपरीत जैन इस प्रथा को व्यवसाय के आधार पर मानते हैं, रक्त के आधार पर नहीं । वे इसकी उत्पत्ति का श्रेय मनुष्य को देते हैं, तथा इसके मूल में, यदि शाश्वत भी नहीं तो स्थाई साम्राज्य की स्थापना की आवश्यकता को मानते हैं ।

जहाँ तक ब्राह्मणों की उत्पत्ति की बात है, ऐसा प्रतीत होता है कि यह बाद में भरत के समय अस्तित्व में आई । उन्होंने एक दिन अपनी राजधानी के निवासी पुरुषों को अपने महल में आने का निमन्त्रण दिया और ऐसी व्यवस्था की कि मनुष्यों को निकलने के लिए छोटा सा रास्ता छोड़ दिया, यदि वे उसे रास्ते पर न चलते तो उसके दोनों ओर रास्ते में विस्तृत घास का मैदान था । उनका उद्देश्य उन लोगों की खोज करना था, जिनका हृदय मनुष्यों में बहुत कोमल था और जो महीन पतली पत्तियों वाली घास में भी जीव की उपस्थिति को पहिचानते थे । जिन्होंने घास पर पैर नहीं रखा, उन्हें भरत ने ब्राह्मण नाम दिया, क्योंकि उन्हें ब्रह्मन् (जीव के देवत्व) का ज्ञान था। जगद्गुरु ने भरत के कार्य की सरल भाषा में भर्त्सना की और सम्भवत: जैनों की वस्तुव्यवस्था में सम्पूर्ण समाज व्यवस्था में ब्राह्मण वर्ग का कोई स्थान नहीं है । यह भावना आदिपुराण के लेखक

के समय तक रही। ब्राह्मणों की घृणा को शान्त करने तथा उनके अनुयायियों द्वारा जैनों पर किए जाने वाले अत्याचारों से रक्षा के लिए उन्होंने ब्राह्मणों की विशिष्टता पर कुछ जोर दिया।

शूद्रों में स्पृश्य अस्पृश्य का भेद बाद में उद्‌गमित प्रतीत होता है। यह जगद्‌गुरु के द्वारा बनाया नहीं हो सकता। यह बात कल्पना से परे लगती है कि एक दैवीय गुरु अचानक मनुष्यों के कुछ वर्गों को बढ़िया व कुछ का समाज से बहिष्कृत घोषित कर दे। जबकि वे उस समय तक किसी भी ऊंचे से ऊंचे व्यक्ति के समान स्पृश्य रहे हों।

प्रतीत होता है कि एक समय बाद ऐसा हुआ कि वे शूद्र, जिन्होंने भङ्गी, चमार तथा इसी प्रकार का व्यवसाय किया, उनकी एक वर्ग के रूप में गंदी आदते पड़ गई, तभी से उच्च वर्णों के साथ उनके पारस्परिक व्यवहार का निषेध हो गया। यह कौन सा समय था, इसकी कोई निश्चिय मीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। सम्भवत: उनका अलगाव मूल रूप में रक्त सम्बन्ध की हीनता की अपेक्षा आर्थिक कारणों पर आधारित था जो व्यक्ति तुरन्त मारे भेदों को समाप्त कर सामान्य बराबरी का प्रचार करते है, वे एक चीज भूल जाते हैं कि भारत वर्ष का भंगी केवल उसी समय तक भंगी नहीं है जब तक कि वह काम करता है, बल्कि अपने जीवन के चौबीसों घण्टे वह भंगी है। उसका घर, सामान, वस्त्र, परिवेश, यहां तक कि शरीर भी, वर्ष भर, बल्कि जीवन भर, गंदगी का ठेर होते हैं।

उसके पूर्व उसके पिता ठीक उसी प्रकार थे। यदि आप उसके भूतकाल में पीछे जाय तो उसके पूर्वजों को सदैव गन्दा और अस्वच्छ पायेंगे। यह अत्यधिक वाञ्छनीय है कि इन व्यक्तियों के साथ मानवीय व्यवहार किया जाना चाहिए, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि देवत्व के बाद जिस गुण का स्थान आता है अर्थात् सफाई को बढ़ावा, मिलेगा यदि हम उन हाथों से खाने लगें जो कि गन्दे हों या जिनका किसी प्रकार का गन्दगी से जुड़ाव हो। संकेतों का प्रभाव सर्वविदित है। ऐसे व्यक्ति के हाथ से लिया गया भोजन जिसके व्यक्तित्व, नाम या स्वर, मे गंदगी का विचार जुड़ा हो, ऐसा ही प्रभाव छोड़ेगा मानो वह वास्तव में गंदगी का ही बना हो। यह प्रकृति का मशक्त नियम है। सम्मोहन व आत्म संकेत के सिद्धांत व अभ्यास से परिचित सभी लोग इसे जानते हैं। हमें गिरे हुए लोगों को सभी साधनों से उटाना है, लेकिन हमें उन्हें नीचा नहीं बनाना है, जो कि नीचे दबे हुए नहीं है। इस विषय में यूरोप के सफाई करने वाले का उदाहरण नहीं दिया जा सकता। यूरोप में इस प्रकार के सफाई कर्मचारी नहीं है जो वंशानुक्रम से समय से गन्दे वातावरण में रहे हों, जैसा कि भारत में है। वहां एक व्यक्ति सफाई कर्मचारी का काम कर सकता है, किन्तु वह जन्म से या वंशानुक्रम से या रहन सहन से भंगी नहीं है।

पर साथ ही हमें इस बात पर इतना भी जोर नहीं नहीं देना चाहिये कि जिसमें किसी भावनात्मक अति के कारण एक उच्चाकांक्षी आत्मा की प्रगति में बाधा उत्पन्न हो। इससे हमारे स्वयं के लिए भी बुरे परिणाम ही निकलेंगे। प्रत्येक क्षणिक विचार एक संकेत की तरह प्रभावी नहीं होता। इस प्रभाव को प्राप्त करने के लिए उसमें पृथक्ता, तीव्रता, व निरन्तरता का होना आवश्यक है। और फिर प्रत्येक संकेत भी भावी पुनर्जन्म में निम्न स्तर की ओर ले जाने वाला नहीं होता। क्योंकि कोई भी संकेत मस्तिष्क से उतनी ही सरलता से मिटाया जा सकता है जितनी सरलता से वह बनता है। आत्मा के साथ मृत्योपरांत भी जुड़े रहने वे उसको नीच गोत्र की ओर ले जाने के लिए। ऐसा प्रभाव चाहिये जो वास्तव में गंदगी के साथ लगातार जुड़े रहने से उत्पन्न

होता है ।

यदि अछूत अपनी परिस्थितियां बदलेंगे और ऊंचे उठेंगे, तब उन्हें गन्दगी और गन्दी परिधि से छुटकारा मिलेगा और वे इस प्रकार व्यवस्था कर सकेंगे कि वे अत्यधिक गन्दे न दिखे, जैसे कि आजकल दिखते हैं । रक्त का पक्षपात ही यथार्थ रूप में उनके विरूद्ध कार्य नहीं कर रहा है अपितु उनकी अपनी अस्वच्छता उनके विरूद्ध कार्य कर रही है। किस हद तक तीव्र आर्थिक समस्यायें, जिनका हम सामना कर रहे हैं उन्हें गन्दगी से मुक्त कर सकेगी, यह कहना कठिन है, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि उनके द्वारा उन सामान्य मनुष्यों के पीछे छोड़ देने की सम्भावना नहीं है जिनमें से लगभग दो करोड़ ऐसे व्यक्ति हैं जो कि एक बार भी भरपेट भोजन नहीं पाते हैं । दूसरे नियमों के समान व्यक्तिगत अपवाद सदैव रहेंगे ।

कुछ सीमाओं तक वर्णपरिवर्तन की स्वीकृति हैं, जिसका उद्देश्य उचित सरकारों की सुरक्षा है । इसका उद्देश्य व्यक्तित्व व परिवेश का परिवर्तन भी हो सकता है । जैनधर्म के अनुसार नए धर्मपरिवर्तन करने वाले का वर्ण उसके व्यवसाय के अनुसार एक वर्ष के परीक्षण के बाद तय किया जाता है ।

वर्ण व्यवस्था की स्थापना के बाद जगद्‌गुरु ने चार महामाण्डलिकों को, जिनका नाम हरि, अकम्पन, कश्यप तथा सोमप्रभ था, नियुक्त किया । उनमें से प्रत्येक एक हजार मुखियों पर शासन करता था । हरि हरिकान्त कहलाए और उनका घर हरिवंश/अकम्पन, जिन्होंने अपना नाम बदलकर श्रीधर रख लिया था, ने नाथवंश की स्थापना को । कश्यप उग्रवंश के संस्थापक हुए और मघवा नाम से प्रख्यात हुआ । सोमप्रभ ने कुरुराज नाम स्वीकार किया । इसी से कुरुवंश का प्रारम्भ हुआ। श्री ऋषभदेव ने तब कच्छ, महाकच्छ और दूसरे क्षत्रिय राजकुमारों को पांच सौ सामन्तों पर राज्य करने हेतु अधिराज की नियुक्ति की । अधिराज स्वयं महाराज के अधीन थे ।

इक्ष्वाकुवंश का उदय इस प्रकार हुआ - कल्पवृक्षों के लोप के बाद जगद्‌गुरु ने इक्षु रस का प्रयोग करना सिखाया, जिससे वे इक्ष्वाकु कहलाए । कुछ वर्ष बाद यह शब्द ऋषभदेव के वंश के लिए इक्ष्वाकुवंश शब्द प्रयुक्त होने लगा । जगद्‌गुरु को ब्रह्मा, विधाता, सृष्टा तथा इसी प्रकार के अन्य नाम भी मिले, जिसे सब लोग रचना करने वाला मानते हैं, क्योंकि कर्मभूमि सभ्यता की व्यवस्था का निर्माण किया ।

इक्ष्वाकुवंश से सूर्य और चन्द्रवंश बाद में निकले । इन दोनों की स्थापना जगदगुरु के दो पौत्रों ने की । पहला नाम भरत के पुत्र अर्ककीर्ति के नाम पर पड़ा और दूसरा बाहुबली के पुत्र सोमकीर्ति के नाम पर, जो महाबल भी कहलाया ।

❑❑❑

अध्याय ८

संसार त्याग और सन्यास

This man is freed from servile Bands
of hope to rise or fear to fall,
Lord of himself, though not of lands.
And having nothing, yet hath all !"
Sir H. Watton

"उत्थान पतन के आस-भय सम दासोचित बंधन से मुक्त,
यह मनुज स्वयंभू, न भूमिपति, कुछ न रखकर, सर्वस्व युक्त ।"

"अपने पुत्र भरत को राज्य देकर ऋषभदेव ने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया और तप धारण कर लिया।.........तप के कारण उनका शरीर बहुत कृश हो गया।"

कूर्मपुराण (हिन्दू), LXI 38-39

ऋषभदेव ने समदृष्टि और बुद्धिमत्ता से राज्य किया......... वीर भरत को उन्होंने पृथ्वी का सार्वभौमिक आधिपत्य दे दिया। उन्होंने एक सन्यासी का जीवन अङ्गीकार कर लिया। वे धार्मिक तपस्या और निर्धारित अनुष्ठान करने लगे, जब तक कि तप से उनका शरीर क्षीण नहीं हो गया। उनका शरीर खाल और नसों का ढेर रह गया। वे तीन होकर महापथ की ओर प्रयाण कर गए।

विल्सन का विष्णु पुराण Vol. II (Book II Chapter I) PP. 103-104 देखिए।महान् व्यक्ति आलासी नहीं रह सकते। उन्हें अपना कार्य करना होता है, जिसका कि उन्होंने पहले निर्धारण किया होता है। यह निर्धारण चाहे इसी जन्म में किया हो या पूर्वजन्म में। जब जगद्गुरु के जीवन का मुख्य भाग व्यतीत हो गया तो इन्द्र प्रथम स्वर्ग का इन्द्र पूजनसामग्री के साथ पूजा के लिए आया। स्वर्गीय नृत्यकारों के साथ देवाङ्गना थी, जिसके जीवन की घड़ियाँ कुछ ही क्षणों की अवशिष्ट थीं। उसका नाम नीलांजना था। यह जानकर कि जगद्गुरु के महासन्यास का समय निकट आ गया है, इन्द्र उस देवाङ्गना को अपने साथ भगवान के मन में वैराग्य की भावना की ज्वाला जलाने ले आया था। इन्द्र के इशारे पर वर नृत्य करने के लिए उठी और अपनी आलीशान नृत्यक्रिया से दर्शकों का मनोरंजन किया। सम्भवत: वह जानती थी कि सबमें से उसे ही उस विशेष क्षण क्यों नृत्य के लिए कहा गया। उसने ऐसा नृत्य किया, जिसे उसने पहले कभी नहीं किया था। जीवन के अंतिम क्षणों में जगद्गुरु की उपस्थिति ने उसे उत्साह, सन्तोष और आनन्द से भर दिया। वह जानती थी कि उसका अवसान अत्यधिक सुरक्षित है। उसने अन्य किसी की परवाह नहीं की। उसके आलीशान नृत्य क्रिया का उपस्थित सभी लोगों ने आनन्द लिया। नृत्य क्रिया की उत्तेजना के मध्य, उत्साही वह लड़खड़ाई, लड़खड़ाती हुई पीछे हटी, रुकी और अगले क्षण उसका रूप विलीन हो गया। अब कुछ नहीं बचा था, नीलांजना मर चुकी थी।

इस घटना से उपस्थित नर-नारियों के मन में जीवन की क्षणिकता की भावना भर दी। उन्होंने इसे भौंचक्का होकर देखा। जगद्गुरु को यथार्थ में संसारत्याग के लिए किसी प्रकार का स्मरण दिखाने की आवश्यकता नहीं थी। गुप्त रुप से हृदय में जो आग धधक रही थी, उसकी लपटें निकलने लगी। उन्होंने अपने मन में संसार से तथा संसार की अच्छी वस्तुओं से विदा लेने का निश्चय कर लिया।

पाँचवे स्वर्ग के अन्त में क्षेत्र के निवासी देवर्षि जो कि इस कार्यवाही को वहीं से देख रहे थे, शीघ्र ही जगद्गरु की पूजा हेतु तथा जो कुछ उन्होंने निर्णय लिया था, उस पर सुदृढ़ कराने हेतु प्रविष्ट हुए। उन्होंने उचित शब्दों में उनकी प्रशंसा की इनसे मन शान्ति से तथा नश्वर जगत् से पृथक्त्व की भावना से भर गया।

जगद्गुरु ने राजसिंहासन पर भरत को बैठा दिया और बाहुबली को युवराज बना दिया। उन्होंने अपने क्षेत्र और सीमा प्रदेश अपने दूसरे पुत्रों और सम्बन्धियों को उनकी योग्यता और आवश्यकताओं के अनुसार दे दिए तथा बहुत सा धन दान दे दिया। इस सबको करने के बाद उन्होंने माता पिता पत्नियाँ और सम्बन्धियों से अवकाश ले लिया। एकत्रित देव और मनुष्यों ने तब उनका अभिषेक किया और उनकी पूजा की।

ऋषभदेव तब खड़े हुए और देवों द्वारा इसी अवसर के लिए लाई गई सुदर्शना नामक पालकी पर कदम रखा। सबसे पहले कुछ राजा पालकी को ले गए। जब वे सात कदम ले गए, तब विदेह से आए विद्याधरों के राजा ले गए, अनन्तर देव इसे सिद्धार्थक वन को ले गए, जो कि इलाहाबाद से लगा हुआ है। उन दिनों अयोध्या और प्रयाग की सीमायें शायद मिली हुई थी, क्योंकि अयोध्या 96 मील लम्बी और 72 मील चौड़ी थी।

आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष की नवमी को जबकि चन्द्रमा उत्तराषाढ़ नक्षत्र पर था जब जगद्गुरु ने जगत् से अंतिम रूप में पीठ फेर ली। पालकी एक बहुत बड़े पारदर्शक पत्थर की शिला पर रखी गई, जो कि इसी अवसर के लिए रखा गया था। प्रभु बाहर निकले और इस पर विराजमान हो गए। अब सायं का समय था। प्रभु एक वटवृक्ष के नीचे बैठे। वे वैराग्य की भावना से भरे हुए थे। वे पूर्वाभिमुख होकर योगमुद्रा में बैठे हुए थे। उन्होंने सिद्धों को नमस्कार किया। जो कि उनसे पहले निरापद स्थिति और निर्वाण को प्राप्त कर चुके थे। पूर्ण प्रसन्नता और महान् उत्साह के साथ उन्होंने अपने सिर के बालों का पंचमुष्ठि केशलोंच किया। स्वर्ग के इन्द्र ने इन केशों को चुना और एक रत्नों की पिटारी में रखा। बाद में उन्हें दूर क्षीरसागर में डाल दिया गया।

उपर्युक्त ढंग से अपने केशों का लोंच कर ऋषभदेव अपने वस्त्राभूषणों को अलग करने में, जिन्हें उन्होंने धारण कर रखा था, संलग्न हुए। उन्होंने अपने पास सांसारिक कोई वस्तु नहीं रखी तथा दिगम्बर हो (वस्त्ररहित) हो गए। उन्होंने न केवल समस्त बाह्य परिग्रह का ही त्याग किया, अपितु यथाशक्य आभ्यन्तर परिग्रह का भी त्याग कर दिया। सामान्य मानवीय ज्ञान के साथ-साथ जन्म से वे अवधिज्ञानी थे। महान् त्याग के फलस्वरूप अब उन्होंने मनः पर्यय ज्ञान (जीवित तथा मृत व्यक्तियों के मन की बात जानने की शक्ति) की प्राप्ति कर ली। उनके पथ का अनुसरण करने वाले सामन्त और मुखिया चार हजार से कम न थे किन्तु या तो केवल उन्होंने जगद्गुरु के प्रति आदर की भावना से या उत्साह के कारण ऐसा किया था। वे नहीं समझते थे कि वे क्या कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं।

अपनी महान् आत्मा की शक्ति, जो उन्होंने बहुत से पिछले जन्मों में विकसित की थी, को जानते हुए जगद्गुरु पवित्र ध्यान में लीन हो गए । उन्होंने तय किया कि छ: माह से पूर्व आहार ग्रहण नहीं करेंगे । वह कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहे । सभी समय चट्टान की तरह अचल, शान्त और निराबाध रहे ।

उस बहुत प्राचीन युग में सभी मनुष्यों का शरीर बहुत बड़ा होता था और भगवान् जब पवित्र ध्यान में खड़े थे, तब एक अचल पर्वत के समान दिखाई देते थे ।

भगवान् के चार हजार अनुयायी, जिनके हृदय धार्मिक ज्ञान से प्रकाशित नहीं थे, शीघ्र ही बैचेनी महसूस करने लगे । वे बहुत समय तक अपनी शक्ति के अनुसार स्वयं को रोके रहे, किन्तु निष्क्रिय वहाँ खड़े होने में असमर्थ रहे । वे भूख प्यास से आक्रान्त हो गए । उन्होंने एक दूसरे के बाद स्थान छोड़ दिया और जंगल में तितर वितर हो गए । उन्हें लोगों की मजाक और भरत की अप्रसन्नता का भय था, अत: वे पुन: जगत् में नहीं लौटे । बहुत से लोगों ने लम्बा चोगा तथा पेड़ की छाल और पत्तियों का कटिबन्ध धारण कर लिया और जंगल में रहने लगे । प्रत्येक जगद्गुरु के समान होने के लिए अपनी कल्पना का अनुसरण करने लगा ।

यह मानना गलत होगा कि जगद्गुरु तथा जो उनका मात्र अनुसरण कर रहे थे, के तपश्चरण में कोई अन्तर नहीं था । सबसे बड़ा अन्तर स्वतन्त्रता की अनुभूति में था, जिसने जगद्गुरु को उभाड़ दिया और अवर्णनीय आन्तरिक आनन्द से भर दिया । दूसरों ने अपनी इच्छा के अनुसार संसार त्याग नहीं किया था तथा उन्हें स्वतन्त्रता के आनन्द की अनुभूति नहीं थी, किन्तु उन्हें अपने अभावों का दु:ख और कष्ट था । इसका परिणाम यह हुआ कि जब जगद्गुरु सभी समयों में आन्तरिक आनन्द की अनुभूति कर रहे थे, उनके अनुसर्ता केवल अपने मूर्खतापूर्ण कदम पर, जो उन्होंने उठाया था, खिन्न हो रहे थे ।

उनमें से कुछ ऐसे थे जो जगद्गुरु के उदाहरण से अभिप्रेरित हुए थे तथा उनके साथ उन्होंने सन्यास ले लिया था । उनमें से एक मरीचि था, जो कि भरत के पुत्रों में एक था । उसकी आत्मा महान् थी, जो अन्त में अंतिम तीर्थंकर महावीर हुआ, किन्तु उस समय वह सत्य को समझने और अनुभव करने के योग्य नहीं था तथा भूख और प्यास की पीड़ा को बरदास्त करने में असमर्थ रहा, जिसे वह प्राप्त करने का अभिलाषी था । वह परिव्राजक हो गया । उसने सब प्रकार के मूर्खता पूर्ण और विवेक रहित सिद्धान्तों का प्रचार किया, जिसके परिणाम स्वरूप उसे कुछ जन्मों के बाद कई बार नरक में जाना पड़ा ।

जगद्गुरु का तपश्चरण उन सबके लिए अद्‌भुत था, जिन्होंने इसे देखा । मनुष्य उस समय यह नहीं समझ सके कि यह क्यों और किस कारण किया जा रहा है ? किन्तु वे ध्यान की स्थिरता, जिस में कोई बाधा नहीं डाल सका, पर आश्चर्यान्वित थे। एक बार वहाँ कुछ बाधा आई । दो अविवेकी युवक जो कि कच्छ तथा महाकच्छ के पुत्र थे ने उन्हें यह सोचकर खोज निकाला कि उनसे कुछ वर प्राप्त करेंगे । जब जगद्गुरु ने अपने सीमा प्रदेश पुत्रों तथा रिश्तेदारों में विभाजित किया था, तब उन्हें कुछ नहीं मिला था । वे अनुभव करते थे कि उनके ऊपर उनका हक है, क्योंकि उनकी बुआ उनकी पत्नियाँ थीं । वे आए । उन्होंने इरादा कर रखा था कि जब तक उन्हें उनसे वरदान नहीं मिल जाता, तब तक वे उन्हें छोड़ेंगे नहीं । उन्होंने उनके पैर पकड़ लिए और दान के लिए शब्दों द्वारा की गई प्रार्थना से परेशान करने लगे ।

उस दिन पाताल खण्ड का शासक देव अपने महल में बैठा हुआ था। जब उसने अनुभव किया कि उसका सिंहासन थरथराहट के साथ काँप रहा है अपनी अवधिज्ञानी दृष्टि से उसने विश्व को ध्यानपूर्वक देखा कि विश्व में क्या हो रहा है, जिससे यह घटना घटी। तब उसने जगद्गुरु की बाधा के कारण को खोज निकाला और सिद्धार्थक वन की ओर भागा। ताकि वह बाधा के कारण को दूर कर सके।

युवक अपने फूपा पर अब भी अपनी मांग का दबाव डाल रहे थे। दूसरा भक्त नम्र रूप में घटना स्थल पर प्रकट हुआ। नवागन्तुक ने उचित रीति से भगवान् की पूजा की तथा अपने हृदय से उनकी स्तुति की। तब वह युवकों की ओर मुड़ा तथा उनसे कहा कि दैवीय योगी से छेड़खानी न करे, किन्तु इसके परिणामस्वरुप उन्होंने उससे कहा कि अपना काम करो। यद्यपि उनकी शैली सुकोमल तथा अभिव्यक्ति सुन्दर थी। उनके दृढ़प्रतिज्ञ जानकर नवागन्तुक अपने देव रूप में आया और उन्हें महाद्वीप में बुहत दूर के विजयार्द्ध पर्वत पर ले गया जहाँ कि उसने उस स्थान के निवासी विद्याधरों के मध्य दो राज्य स्थापित किए। तब वह अपने पाताल लोक के महल में वापिस आया। कच्छ का पुत्र, जिसका नाम नमि था, इस प्रकार पचास प्रदेशों का राजा हुआ। महाकच्छ का पुत्र विनमि साठ प्रदेशों का राजा हुआ। देव ने उन्हें कुछ रहस्यमय कलायें सिखाईं तथा उन्होंने कुछ अद्भुत मानसिक योग्यतायें तथा शक्तियाँ प्राप्त कीं।

इस प्रकार जगद्गुरु ने अपना ध्यान छः माह तक जारी रखा। तब उन्होंने कुछ भोजन का अन्वेषण किया, किन्तु उस समय कोई भी नहीं जानता था कि दैवीय मन्त को क्या दिया जाय और कैसे दिया जाय। जगद्गुरु बहुत से ग्रामों और नगरों में होकर गुजरे किन्तु जिस विधि से वे आहार ग्रहण करें, उस विधि से देने के कोई योग्य नहीं था। जहाँ कहीं वे गए, मनुष्य उनके सामने धन, हीरे–जवाहरात तथा स्नान के लिए पानी लाए। यहां तक कि अपनी जमीन दान देनी चाही, किन्तु वे इनमें से कोई चीज नहीं चाहते थे। कुछ उन्हें भोजन भी लाए, किन्तु यह न तो विधि पूर्वक बना था, न विधि पूर्वक दिया गया था, अतः स्वीकृत नहीं हो सका।

इस प्रकार छः माह और बीत गए। इस बीच भगवान् ने भोजन और जल नहीं लिया। किन्तु उनके लिए मात्र यह एक घटना थी। उन्हें इससे किसी भी प्रकार की बाधा नहीं हुई। यहाँ तक कि सामान्य साधुओं से भी यह आशा की जाती है कि वे भोजन न मिलने पर अप्रभावित रहें। यदि भोजन की आवश्यकता के कारण मृत्यु आ जाय तो यह केवल एक घटना मात्र होगी, अधिक कुछ नहीं ? जिस व्यक्ति ने हल चलाने के लिए हाथ रखा है, वह बिना किसी कारण के पीछे नहीं देखता है। यदि भोजन की आवश्यकता के कारण साधु विचलित न होकर किसी परिस्थिति में मर जाता है तो यह एक विधेयात्मक लाभ है। यदि वह भूख के आवेग की वृद्धि करता है या भुनभुनाते हुए अपने दुर्भाग्य को श्राप देते हुए मर जाता है, तो यह एक पतन है।

ऋषभदेव पूरी तरह से भूख की टीस पर ध्यान नहीं देते थे और न कभी भी इस विषय में विचार करते थे। वह अब भी आत्मचिन्तन में लीन रहकर विचरण करते थे और शारीरिक आवश्यकताओं के प्रति सतर्क नहीं थे।

केवल एक बार जब मनुष्य अपना नास्ता लेते हैं, वे बस्तियों में घूमते थे, शेष सारा समय पवित्र ध्यान में व्यतीत करते थे। प्रातःकाल भी वे गांव और शहरों से होकर बिना कुछ एक शब्द भी कहे तथा भोजन के लिए किसी से कहे बिना, गुजरते थे। इस प्रकार वे हस्तिनापुर नगर पहुँचे जहाँ पर कि राजा सोमप्रभ अपने भाई श्रेयांस के साथ रहते थे। छोटे भाई ने पूववर्ती रात्रि में प्रातः

काल से पूर्व के घण्टों में कई अद्भुत स्वप्न देखे। प्रात: काल जब वे उठे तो वे उन्हीं स्वप्नों के विषय में विचार कर रहे थे। उन्होंने अपने भाई से उन स्वप्नों की व्याख्या पूछी कि उन सबका सम्बन्ध किससे हैं। उन्होंने सभा पुरोहित की ओर इशारा किया, जो कि उस समय उपस्थित था और जिसने उन सब स्वप्नों को सुना था। ''वे महान् देव के आगमन को संकेतित करते हैं। यह आपके राजभवन का सौभाग्य है। इस दिन कोई महान आत्मा आपके यहाँ आनी चाहिए।

इसके कुछ ही घण्टों बाद जगद्गुरु हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुए और राजभवन की ओर बढ़े। श्रेयांस ने उन्हें कुछ दूर से आते हुए देखा और उन्हें नमस्कार करने हेतु अपने भाई तथा दूसरों के साथ दौड़ पड़ा। भगवान् के दर्शन से वह बहुत गद्गद् हो गया। कुछ शक्तिशाली भावनायें दौड़ गई। उस क्षण उसमें आन्तरिक हलचल मच गई। अगले क्षण श्रेयांस ने स्वयं को जाना। उसे स्मरण आया कि किस प्रकार बज्रजंघ ने वन में दो पवित्र साधुओं को दान दिया था और किस प्रकार वह बज्रजंघ की बगल में था। यह पुरानी घटना थी। अनेक बार जब उसका विभिन्न रूपों में जन्म हुआ था, उनकी स्मृति अब भी तेजी से वापिस आई, वह जीवन्त और स्पष्ट थी। पहले स्वयम्प्रभा, फिर श्रीमती और अब श्रेयांस, ये सब एक ही आत्मा की तीन स्थितियाँ थी। कौन कहता है कि स्त्री का भाग्य जैन धर्म में हीन है। श्रेयांस ने इसे दूसरी ही प्रकार का पाया।

अनुराग पूर्ण भक्ति से भरा हुआ श्रेयांस अब जगद्गुरु को विधि पूर्वक ताजा गन्ने का रस देने चला। विधि की स्मृति उसे पूरी तरह हो गई है। बहुत सारे दान हैं, जिन्हें मनुष्य एक दूसरे को देता है, किन्तु उन सबमें सही साधु आहारदान बहुत गुणकारी है। चूंकि तीर्थंकर समस्त साधुओं में सबसे बड़े हैं अत: उन्हें शुद्ध हृदय से दान देना ज्ञान (दैवीय ज्ञान) की ज्योति जलाना है तथा आदर्श के लिए श्रद्धा और भक्ति से भर जाना सबसे अधिक गुणकारी है। ऊपरी वायु से देव अवलोकन के साक्षी थे। उन्होंने सुगन्धित जल की वर्षा की तथा सभाकक्ष के ऊपर छोटे-छोटे मोती और स्वर्गीय पुष्प बरसाए। वे जोर-जोर से जय-जय शब्द का उच्चारण कर रहे थे और स्वर्गीय ढोल बजा रहे थे।

दो जैन साधुओं को आहारदान देने का प्रभाव हम चार पशु आत्माओं - सिंह, शूकर, बन्दर और नेवले के मामले में देख चुके हैं, जो कि वहाँ से भोगभूमि में पहुँचे थे। यथार्थ में पुण्य उन वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता है, जो दी गई हैं। जगद्गुरु ने जो रस ग्रहण किया उस गन्ने का बाजार मूल्य बहुत कम रहा होगा। यथार्थ में पुण्य विचारों की शुद्धता पर निर्भर है। जब दान पाने वाले को सच्चा गुरु, उसके धर्म को सही मार्ग, व उसके उदाहरण को सच्ची अर्चना माना जाये।

जब आहारदान दान देने वाला उनको देने में अहोभाग्य मानता है, जिनके पदचिन्हों पर चलने की इसे तीव्रइच्छा थी, तब उसे दान के उपलक्ष्य में भोगभूमि की प्राप्ति होती है। यदि भिखारी या कुत्ते को फेंके गए कौर के समान इस दान को मानता है तो कोई विशेष पुण्य नहीं होता है। जो व्यक्ति स्वयं आहार नहीं देते हैं, किन्तु दूसरों को देता हआ देखकर आनन्दित होते हैं और अच्छे विचारों से उनका मन भरा होता है, उन्हें भी भोगभूमि के आनन्द की उपलब्धि होती है, क्योंकि यह केवल विचारों तथा भावनाओं की पवित्रता का सवाल है। यही कारण है, क्यों देव इस प्रकार के अवसरों का आनन्द लेने के लिए आते हैं, जबकि किसी महान् साधु या जगद्गुरु को आहारदान दिया जाता है।

ऋषभदेव इक्षुरस लेने के बाद पुन: वन की ओर प्रयाण कर गए। सभी ने राजा श्रेयांस की इस मेधा की प्रशंसा की कि उन्होंने यह जान लिया कि ऐसे अवसर पर क्या किया जाना है, जबकि

दूसरे इसमें असफल हो गए। जहाँ तक कि भरत भी उनकी प्रशंसा करने के लिए अयोध्या से आए। उनको श्रेयांस अपने तथा जगद्गुरु के पूर्वभवों का इतिहास सुनाया। वे सभी आश्चर्य से भरे हुए थे और उन्होंने निश्चित रूप से जीवन की वास्तविकता को जाना, 'निश्चय ही यह कथन कि तू मिट्टी है और मिट्टी में ही मिल जायेगा, आत्मा के संदर्भ में नहीं कहा गया है।

मनुष्यों ने एक साधु को आहार देने की पद्धति जानी। जगद्गुरु को आहारदान के समय से मनुष्यों को इस विषय में विचार करने में कठिनाई नहीं आई। आहार, जो कुछ भी हो, शुद्ध वस्तु का तथा शुद्धता से निर्मित होना चाहिए तथा देने में शुद्धता होनी चाहिए। यह हिंसा से रहित हो तथा विनय और भक्ति से विधिपूर्वक देना चाहिए। इसमें प्राप्तकर्ता का किसी भी रूप में दर्जा छोटा नहीं होना चाहिए। साधु भूखा रहना पसन्द करेगा किन्तु जहाँ आहार की सावधानी, निर्मित और दान में उसे हीनता, अपने सम्मान में किसी प्रकार की कमी, उपहास या तिरस्कार दिखाई पड़ेगा, वहां आहार ग्रहण नहीं करेगा।

वह वैशाख शुक्ल तृतीया का दिन, जब जगद्गुरु ने हस्तिनापुर में अपना उपवास तोड़ा। उस दिन राजा की रसोई में सारी मानवता को खिलाने की सामर्थ्य थी, क्योंकि जगद्गुरु की उपस्थिति के पुण्य से भोजन आश्चर्य जनक रूप से अक्षीण हो गया। इस घटना के दिन अक्षय तीज के नाम से अब भी स्मरणोत्सव मानाया जाता है।

सर्वज्ञता

Wisdom guarded to the end the first formed father of the world that was created alone, and delivered him out of his own transgressions, and gave him strength to get dominion over all things. II Esdras (Jewish Apocrypha) Chap. X

"For as the lightning cometh out opf the east and shineth even whto the west, so shall also the coming of this son of man be." Mathew XXIV.27

तीर्थंकर के जीवन में चतुर्थ कल्याणक पूर्णज्ञान या दूसरे शब्दों में सर्वज्ञता की प्राप्ति है। इसमें वे शक्तियाँ नष्ट हो जाती है, जो उस ज्वाला को पहले भड़कने से रोक रही थी। चार प्रकार के कर्म होते हैं, जिन्हें घातिया कहते हैं, जो हमारे महान और दैवीय गुणों की हानि के लिए उत्तरदायी है। ये ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म के नाम से जाने जाते हैं। ये घातिया कर्म जीव तथा पुद्गल के संयोग से अस्तित्व में आते हैं। संसारी प्राणियों में ये अनवरत स्थान ले रहे हैं और प्रतिक्षण सुदृढ़ हो रहे हैं, (जब तक कि जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से विशिष्ट न हो) दुराग्रह की शक्तियों तथा क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायों के नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। जिस व्यक्ति के मन में दुराग्रह भरा हुआ है और उपर्युक्त चार कषायों के अहितकर रूप से जो क्षुब्ध है, वह तर्क को नहीं सुन सकता या संयत तथा बौद्धिकता की मनोदशा में धर्म का अध्ययन नहीं कर सकता। अत: सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए इन पाँच प्रकार की शक्तियों को नष्ट या मन्द करना चाहिए। अन्वेषक को कल्पना और तथ्य, (मिश्रित सत्य तथा असत्य) के बीच समझौता छोड़ना पड़ेगा, तथा वस्तुओं के विषय में उसके अंधविश्वास को वस्तुओं के सही बौद्धिक दृष्टिकोण को लेना चाहिए।

ये सात प्रकार की कर्म शक्तियाँ चली गई। वह सम्यग्दर्शन प्राप्ति के योग्य है। सम्यग्दर्शन में सम्यग्ज्ञान पहले से ही माना जाता है, क्योंकि दर्शन ज्ञान का अनुसरण करता है किन्तु सम्यग्दर्शन से पूर्व यह उदित नहीं होता है। जो संशय, विपर्यय और अज्ञान से रहित हो, वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इस स्थिति की प्राप्ति के पूर्व ज्ञान सूचना के तुल्य है। जैसे ही इस पर दर्शन की मुहर लगती है, यह सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इसमें अज्ञान और संशय के.तत्त्व अलग हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होते ही, शीघ्र या बाद में सम्यक् चारित्र का प्रारम्भ करना होता है, क्योंकि बिना क्रिया के कुछ भी प्राप्ति नहीं होती है। उन्नति के रास्ते में जो शक्तियाँ आती हैं उन कषायों की मात्रा कम हो जाती है, जो अब भी काफी शक्तिशाली होती है तथा आत्मोपलब्धि की पूर्णता में बाधा डालती हैं। जब पूरी तरह संसार त्याग होता है, तभी इन्हें नष्ट किया जा सकता है। तपश्चरण का तात्पर्य संसार की किसी भी अच्छी वस्तु से कोई मतलब नहीं रखना अर्थात् पूरी तरह से प्रलोभनों को समाप्त कर देना है। सफलता की प्राप्ति के पूर्व यदि मृत्यु हस्तक्षेप करती

है तो कोई बात नहीं है। अमर आत्मा अपने प्राप्त किए हुए पुण्य को ले जाती है तथा भविष्य के लिए यथार्थ में लाभ हो जाता है।

ऋषभदेव जी ने अपने पूर्वजन्म में तपश्चरण कर बहुत पुण्य का संचय किया था। उसकी आत्मा की आन्तरिक शक्तियाँ इस हद तक विकसित थीं कि उनकी संकल्प शक्ति पर किसी का आधिपत्य नहीं था। उनकी संकल्पशक्ति के विरुद्ध विपत्ति तथा परेशानियों का अपना सिर टकराना व्यर्थ था। जब तक वह समाधि में थे, तब तक वे भोजन और जल के बिना पूरी अवधि रहने में समर्थ थे और इसके छः माह बाद जब कि किसी ने भी यह नहीं जाना कि कैसे इन्हें विधि पूर्वक आहार दिया जाय, वे भोजन और जल के बिना रहे। मृत्यु के भी ऊपर उनके हाथों प्रहार हुआ। भूख उन्हें केवल मांस के उत्पीड़न से मुक्ति दिला सकती थी, यदि वह इनके शरीर को नष्ट कर सकी होती।

निर्भय, आत्मकेन्द्रित तथा आत्मसंयत जगद्गुरू बहुत लम्बे समय तक ध्यान में लवलीन हुए लम्बे समय तक घूमते रहे। उन्हें कर्मों को नष्ट करने तथा अपनी आत्मा को पुद्गल से अलग करने के लिए कठोर तप किए। उन्होंने 999 वर्ष 11 माह 2 दिन कर्म नष्ट करने वाली तपस्या में बिताए। अन्त में उनका तपश्चरण फलीभूत हुआ। उत्तराषाढ़ नक्षत्र में फागुन कृष्ण एकादशी के दिन दैवीय मन्दिर का पर्दा पूरी तरह फट गया तथा दैवीय ज्ञान, जो प्रकाश के समान सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, उनकी आत्मा में भर गया। उस समय वे शकटवन वन में, जो कि पुरिमताल नगर से सटा हुआ है, एक वटवृक्ष के नीचे बैठे हुए थे।

तपश्चरण के विस्तृत विवरण से यहाँ रुकने की हमें आवश्यकता नहीं, किन्तु सर्वज्ञता प्राप्ति जैसी घटता अनवलोकित नहीं रह सकी। देवों ने इस घटना का प्रत्यक्ष कुछ चिन्हों से, जो कि उनके क्षेत्र में प्रकट हुए, कर लिया तथा वे जगद् गुरु की पूजा के लिए समूह के रूप में आए। जगद्गुरु अब यथार्थ में सत्य को सिखाने तथा प्रचार करने के योग्य हो गए थे। प्रथम स्वर्ग के इन्द्र के निर्देश से देवों द्वारा भगवान् के उपदेश के लिए एक स्वर्गीय समवसरण बनाया गया। जगद्गुरु इस समवसरण में एक बड़े स्वर्ण कमल के ऊपर बैठे जो कि एक स्वर्गीय रत्नजटित सिंहासन पर रखा हुआ था। भगवान् का कमल स्पर्श नहीं हो रहा था, वे इससे एक इंच ऊपर वायु में विराजमान थे। यहाँ देव और मनुष्य, जिन्होंने ज्योति के विषय में जाना जीवन तथा ज्योति के स्रोत भगवान की पूजा के लिए एकत्रित हुए।

□□□

समवसरण

वह एक वर्ष तक सीधा खड़ा रहा। देवताओं ने उससे कहा - ओ व्रात्य! तुम क्यों खड़े हो ? उसने उत्तर दिया और कहा कि वे उसे, गद्देदार पलङ्ग लायें। वे उस व्रात्य के लिए गद्देदार पलङ्ग लाए। व्रात्य पलङ्ग पर उतरा। देवताओं के यजमान उसके सेवक थे, महत्त्वपूर्ण व्रत उसके सन्देशवाहक थे और समस्त प्राणी उसके पूजक थे।

* अथर्व वे अध्याय 15

* ग्रिफिथ ने अथर्ववेद के अनुवाद में इस कहानी पर इस प्रकार टिप्पणी की है- इसका समझना कठिन है, और मैं इसकी व्याख्या करने का प्रयास नहीं कर रहा हूँ, जिस प्रकार ब्राह्म अर्थात् परम्पराओं के विद्रोही घूमंतरों - जो कभी भोजन व आवास की खोज में भटकते मनुष्य और कभी मर्वव्याप्त देवों के गुणों से युक्त अतिमानवीय जीव प्रतीत होते हैं - को आदर्श व विचित्र प्रकार से बहुत ही महान बना कर प्रस्तुत किया गया है।

किन्तु यह कथा बड़ी सुन्दरता से ऋषभदेव के जीवन वृत्त से मेल खाती है। वे भी निस्संदेह प्रारंभ में केवल एक माननीय घूमंतर मात्र थे। व्रतों का पालन करने से वे सर्वज्ञ ईश्वर बन गये, देवों ने उनकी सेवा की व समस्त प्राणियों ने उन्हें पूजा।

जगद्गुरु के धर्म प्रचार के लिए बनाया गया समवसरण अवर्णनीय है। यह देवों का कार्य था तथा उन सब वस्तुओं से भी बढ़कर था, जिन वस्तुओं को संसार में मानवीय नेत्रों ने देखा है। यह पृथ्वी के ऊपर अन्तरिक्ष में स्थित था। इसका गोलाकार था तथा इसकी परिधि 12 योजन थी (एक छोटा योजन 8 मील का तथा बड़ा योजन 4000 मील का होता है) सबसे पहले स्वर्णमय स्तम्भों की एक पंक्ति थी। उनकी चोटी पर मकराकार सिर थे, उन मकरों के मुख में अत्यधिक प्रकाशमान सफेद मोतियों की माला लटक रही थी। मोतियों की माला के सुन्दर लम्बूष इन स्वर्णमयी स्तम्भों से लटक रहे थे और अत्यधिक आनन्ददायक प्रतीति की निष्पत्ति कर रहे थे। अनन्तर एक विस्तृत धूलिसाल कोट था, जो कि भिन्न-भिन्न प्रकार के पिसे हुए रत्नों के चूर्ण से निर्मित था। यह सूर्य के प्रकाश में चमकता था। उससे चारों ओर सब जगह इन्द्रधनुष जैसी प्रतीत होती थी। चारों दिशाओं में चार विस्तृत सड़कें थी। ये सड़कें पिसे हुए रत्नों के चूर्ण से निर्मित मध्यभाग में एक दूसरे की सीमा को काटती थी। रत्नमयी सीमान्तप्रदेश के बाद प्रत्येक ओर मान स्तम्भ खड़े थे। वह इतना ऊँचा, ललित तथा बनावट में इतना कीमती था कि जिसका दृश्य बड़े से बड़े मनुष्यों के अभिमान को कम कर देता था। प्रत्येक मानस्तम्भ स्वर्णनिर्मित पीठिका पर प्रतिष्ठित था। इस पीठिका पर 16 सीढ़ियाँ चढ़कर पहुँचा जा सकता था। मानस्तम्भों के ऊपर बैनर तथा ध्वज लगे हुए थे, ये हवा में फहराते थे। मोतियों के बन्दनवार तथा कीमती माला के दाने उन पर लटकाए गए थे। पीठिका स्वयं कीमती धातुओं से विर्मित तीन घेरों से घिरी हुई थी। इनमें प्रत्येक दिशा में दरवाजे थे। स्वच्छ जल से भरी हुई चार सुन्दर बावड़ियाँ चारों ओर प्रत्येक घेरे को घेरे हुए थी।

बावड़ियों के बाहर एक खाई थी जो पूरे क्षेत्र को घेरे हुए थी। इसमें स्वच्छ जल भरा था और उसमें रत्न जटित सुन्दर कमले लगे हुए थे। खाई के दूसरी ओर चार सड़कों के पार एक जंगल था। जो पहाड़ी दृष्य को प्रदर्शित करता था। यह वन बीच-बीच में स्वच्छ खुले स्थानों पर ऊँचे मंच व तरुओं के मंडपों से भरा था। यह वन की सीमा रेखा बनी हुई एक दीवाल थी, जो शुद्ध सुवर्ण से बनी थी और इसमें कीमती रत्न जड़े थे। यह पशुओं और स्त्रियों के चित्रों से सुशोभित थी। इस दीवाल में प्रत्येक दिशा में एक, इस प्रकार चार बड़े-बड़े दरवाजे थे, ये मोतियों और कीमती दानों के बन्दनवारों से सुशोभित थे। दरवाजों में सड़क के दोनों ओर एक नाट्यगृह था, जहाँ देव और देवियाँ जगद्गुरु के पूर्वभव के दृश्य पुनः दर्शाते थे। उन नाट्यशाला के कुछ आगे चलकर गलियों के दोनों ओर दो-दो धूपघट रखे हुए थे, इसमें सुगंधित धूप भरी हुई थी, जिसका धुआँ मोटे खम्भों से होकर आकाश में निकलता था। इस स्थान से राजभवन की ओर सुन्दर अशोक, चम्पक, आम्र तथा सप्तपर्ण1 वृक्ष की वीथी थी। इन चार वीथियों में से प्रत्येक के मध्यभाग में एक पीठिका थी, जिस पर इसका विशिष्ट वृक्ष खड़ा था। प्रत्येक पीठिका पर पूज्य अरहन्त की चार प्रतिमायें थीं, जो अपनी श्रेष्ठ चमक से देव और मनुष्यों को आकर्षित करती थीं, जिनकी आगन्तुक भक्ति के साथ पूजा करते थे। वन के अन्त में चारों ओर चार उठी हुई वेदिकायें थीं, जहाँ पर देव उत्कृष्ट संगीत को उत्पन्न करने में लगे थे। इन वेदिकाओं के घेरे के दरवाजे शुद्ध चाँदी के थे, दीवालें शुद्ध स्वर्ण की बनाई गई थीं। वन से निकलकर यात्री दूसरी ओर फहराती हुई ध्वजाओं की पंक्ति के मध्य आ जाता है। ये ध्वजायें स्वर्णदण्डों पर फहराती है। इन पर दश प्रकार के चिन्ह होते हैं, जिनके नाम हैं - माला, वस्त्रखण्ड, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, वृषभ, हाथी और चक्र। एक-एक दिशा में एक-एक प्रकार की ध्वजायें एक सौ आठ, एक सौ आठ थीं। इस प्रकार प्रत्येक दिशा में सब प्रकार 1080 ध्वजायें थीं। चारों दिशाओं में इनकी कुल संख्या 4320 थीं। ध्वजाओं की पंक्ति के पीछे, उचित अन्तर परशुद्ध चाँदी से बनाई गई एक दीवाल थी, जिसका प्रत्येक दिशा में रजतमय द्वार था। सभी मायनों में यह प्रथम सुरक्षा के लिए बनाए गए परकोटे के समान था तथा अन्दर दरवाजे के प्रत्येक ओर एक नाट्यगृह था। नाट्यगृह से थोड़ी दूर दो बड़े धूपघट रखे हुए थे, जो कि वातावरण को सुगन्धि से भर देते थे। सुगन्धित धूपघट के बाहर सड़क कल्पवृक्षों के वन से होकर गुजरती था। इन वृक्षों की शोभा का कोई उल्लघन नहीं कर सकता था जंगल में दश प्रकार के सुन्दर कल्पवृक्ष फैले हुए थे, उनकी सजावट और चमक एक परियों का सा अत्यधिक प्रिय दृश्य उपस्थित करते थे। प्रकाश के वृक्ष अत्यधिक मनोमुग्धकारी दृश्य प्रभाव उत्पन्न करते थे, जो कि मानवीय कल्पनाओं से प्रदर्शित किए गए प्रकाश तथा अग्नि के अच्छे दृश्यों का भी अतिक्रमण करता था। स्वर्णमयी वेदिकाओं पर मोहक वृक्षों के नीचे, मध्य में, चारों दिशाओं में योग्य स्थानों पर तीर्थंकरों की प्रतिमायें स्थापित की गई थी।

वन के किनारे मकानों की पंक्ति थी, जो कि कीमती धातुओं और पत्थरों की बनी थी। निवास स्थानों के बाहर नौ स्तूपों की एक पंक्ति बनी थी, जो कि स्फटिक मणि से बनाई गई थी और उनमें गहरे लाल रंग के रत्नों के दरबाजे वने थे। दीवाल के बाहर खुला मैदान था जो 8 × 8 योजन था (एक योजन सामान्य रूप से आठ मील का होता है) जो कि बड़े सभाभवन के लिए

1. सप्त पर्ण एक प्रकार का वृक्ष है, जिसमें सात-सात पत्तों का समूह होता है, जिसके कारण यह सप्त-सात, पर्ण - पत्ते कहलाया।

अलग से था। समस्त घेरे की भूमि नीलमणि से निर्मित थी तथा अत्यधिक सुन्दर दिखाई देती थी। इस खुले मैदान के मध्यभाग में स्वर्णमयी स्तम्भों पर एक सभा मण्डप बनाया गया था। इस मण्डप के ऊपर एक अत्यधिक शुद्ध पारदर्शी मणि था। स्वर्ण की दीवारों से यह मण्डप बारह सभाओं में विभाजित था। सिंहासन एक उठी हुई वेदी पर मध्य में रखा हुआ था। यहवेदी स्वर्णनिर्मित तीन पीठिकाओं से उठी हुई थी, इन पीठिकाओं पर कीमती रत्न जड़े हुए थे। वेदी के ऊपर की चौरसभूमि पर एक गन्धकुटी निर्मित थी, यह अपनी डिजाइन के सौन्दर्य से प्रत्येक नेत्र को अपनी ओर आकर्षित करती थी। वहाँ सुन्दर धूपघटों से अत्युत्तम सुगन्ध आ रही थी, इन धूपघटों में जले हुए स्वर्गीय सुगन्धित पदार्थों की निकलती हुई सुगन्धि वायुमण्डल को भर रही थी। गन्धकुटी में भगवान् का सिंहासन रखा हुआ था, इसकी डिजाइन अत्यधिक सुन्दर थी तथा बहुमूल्य रत्नों से निर्मित थी। जगद्गुरु इस सिंहासन का स्पर्श किए बिना इस पर बैठे। वे इस सिंहासन पर लगभग 2 इंच ऊंचाई पर बैठे। उनके मुख की द्युति ऐसी लग रही थी, जैसे एक हजार सूर्य एक स्थान पर चमक रहे हों। उनकी सेवा चौंसठ इन्द्र चमर ढोरकर कर रहे थे। उनके चारों ओर गणधर बैठे थे। प्रथम सभा कक्ष में साधु बैठे थे, दूसरी सभा कक्ष में देवाङ्गनायें बैठी थीं। तृतीय सभा कक्ष में आर्यिकायें और श्रविकायें बैठी थी। अगले तीन सभा कक्षों में देवाङ्गनाओं के तीन अलग वर्ग बैठे थे। अगले 4 सभाकक्षों में देवों के चार वर्ग (वैमानिक, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी) बैठे थे। ग्यारहवें सभाकक्ष में मनुष्य तथा बारहवें में पशु बैठे थे।

तीर्थंकर की आश्चर्यजनक प्राप्तियाँ, जो कि घातिया कर्मों (घातिया कर्म आत्मा के दैवीय स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण के मार्ग में अवरोधक होते हैं) के विनाश के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, इस प्रकार निर्दिष्ट की जा सकती हैं -

वे गुरुत्वाकर्षण को जीतने में समर्थ होते हैं तथा ऊपर उठने व उड़ने की शक्ति होती है। वे भोजन और जल के बिना रहते हैं उनकी पलकें कभी झपकती नहीं है। उनके शरीर की परछाईं नहीं पड़ती हैं, उनके केश नाखून नहीं बढ़ते हैं। उनके ऊपर किसी प्रकार की आपत्ति या दुःख नहीं आता है। जहाँ कहीं वे जाते हैं, शान्ति और सम्पन्नता बढ़ जाती है। स्वाभाविक रूप से विरोधी पशु उनकी उपस्थिति में मित्र हो जाते हैं। उग्रस्वभाव वाले पशु पालतू जैसे हो जाते हैं। जहाँ कहीं भी वे जाते हैं, फूल और फल बिना ऋतु के उद्‌गमित होते हैं। सिंहासन पर विराजमान तीर्थंकर चारों दिशाओं में दिखाई देते हैं, यद्यपि वे पूर्वाभिमुख होकर बैठते हैं। भगवान की वाणी बहुत से जलों की ध्वनि के समान होती है तथा जो कोई वहाँ उपस्थित होता है, उसे अलग अलग अपनी भाषा में सुनता है। यह अनक्षरी होती है गणधरदेव सत्य के उपदेश को प्रमुख बारह अङ्गों में विभाजित करते हैं, इन अङ्गों को श्रुति या श्रुतज्ञान कहा जाता है, क्योंकि इसे गुरू से सुना गया है।

तीर्थंकर के गौरव में देव भी अपना योग देते हैं। वे कुछ दूरी तक चारों और दिशाओं को निर्मल बना देते हैं। भूमि की सतह को काँटों से रहित और चमकीला बना देते हैं। वे भगवान् की अनक्षरी वाणी का भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद करते हैं और जब वे चलते हैं तब उनके चरणों के नीचे कमल बिछाते जाते हैं। सभी समयों में गन्धोदक तथा पुष्प वृष्टि होती है। देव जय-जय शब्द का भी उच्चारण करते हैं, उनके साथ मनुष्य भी मिलकर ध्वनि को बढ़ाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह घटना रोमांचकारी लगती है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, तीर्थंकर सामान्य प्राणी नहीं है। न उनके भक्त मनुष्यों के समान असहाय और शक्तिहीन

हैं। इन पवित्र आत्मा के दैवीय स्तर को जानकर वे अन्य धर्म स्वीकार नहीं करते हैं। जैसा कि हिन्दू अथर्ववेद में कहा गया है कि देव एक महाव्रात्य (जिन) सम्मुख उपस्थित हुए और उन्हें आसन लाए। यह महाव्रात्य और कोई नहीं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ही थे।

समवसरण शब्द में सम का अर्थ सामान्य या क्षोभरहित अवस्था है, अवसर का अर्थ मौका है। तात्पर्य यह कि वह स्थान जहां सभी को दैवीय ज्ञान की प्राप्ति का समान अवसर होता है अथवा इसका दूसरा अर्थ है जहाँ जीव क्षोभरहित स्थिति का प्राप्त करने का अवसर पाता है।

जगद्गुरु अपनी गोद में हाथ पर हाथ रखकर पद्मासन मुद्रा में बैठे। जो कि पूर्ण विश्राम की मुद्रा होती है, यह इस बात का निर्देश करती है कि अब उन्हें कठिन परिश्रम करने के लिए कुछ बाकी नहीं रहा। वह यथार्थ में कृतकृत्य थे। जिसे पुनः कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं रहा।

भरत अपने दैविय पिता के आत्म साक्षात्कार की बात सुनकर उनकी पूजा के लिए आए। विनय, भक्ति और उत्साह के साथ उन्होंने भगवान् की स्तुति की तथा उनकी प्रशंसा में लम्बे समय तक गीत गाए। अनन्तर उन्होंने मनुष्यों के सभाकक्ष में स्थान ग्रहण किया तथा जगद्गुरु से आध्यात्मिक विज्ञान की शिक्षा देने के लिए कहा। भगवान् ने अपना उपदेश प्रारम्भ किया।

भगवान् का उपदेश अमृत की वर्षा के तुल्य था। यह सभी को शान्त और सन्तुष्ट करने वाला था। भगवान् की वाणी चारों ओर दूर से सुनायी पड़ती थी - तथा देव इसे भिन्न-भिन्न सभा कक्ष के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनूदित करते जाते थे।

संसार के रहस्यों के विषय में भगवान् का उपदेश सीधी सादी भाषा में था। उन्होंने द्रव्यों के अस्तित्व की प्रकृति को बतलाया तथा उनके गुण भी बतलाए। उन्होंने यह दिखलाया कि जब द्रव्य आपस में मिल जाते हैं तो भिन्न-भिन्न गुणधर्मों का उदय होता है। द्रव्यों में जीव और पुद्गल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों का मिश्रण ही उन सब दु:खों का कारण हैं, जो संसार में हैं। भगवान् ने सही तत्त्वों का वर्णन किया तथा जीव के बन्ध और मुक्ति का विस्तृत विवरण दिया। जो ज्ञान उन्होंने दिया, वह श्रुतज्ञान कहलाया। इसमें 11 अङ्ग और 14 पूर्व समाविष्ट थे, जिसे धर्म की भाषा में मुक्ति का विज्ञान कह सकते हैं। जिसे जगद्गुरु ने कहा था, उसे सबने समझ लिया था। किसी को भी रहस्यात्मकता नहीं लगी, कोई भी पथभ्रष्ट नहीं हुआ। तीर्थंकर सिद्धान्त के मतलब को छिपाने के लिए रूपक तथा दृष्टान्तों का सहारा नहीं लेते। जो उपस्थित थे, वे भर गए। उनके प्रश्नों का वहीं और उसी समय उत्तर मिला। यह उत्तर अनक्षरी ध्वनि में था, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। प्रश्न के उत्तर स्वरूप जो कहा गया उसे प्रत्येक ने समझा। यथार्थ में गुरु की उपस्थिति स्वयं एकत्रित लोगों की शंकाओं के समाधान की सामग्री जुटाती है। वे स्वयं धर्मस्वरूप थे। वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के मूर्तरूप थे। मोक्ष के तात्पर्य को समझने के लिए सामान्यतया उनका दर्शन आवश्यक था। उनका अनन्त ज्ञान कुछ हद तक उनके प्रभामण्डप में प्रतिबिम्बित हो रहा था, जिसने उन्हें घेर रखा था और जिसमें सभी जीवित प्राणियों के पिछले सात भव चित्रित थे। उनका दर्शन भगद्दर्शन था, उन्हें सुनना स्वर्गीय आनन्द से भर जाना था।

भगवान् के उपदेशों का गणधरों ने संकलन किया और उसे बारह अङ्गों में समाविष्ट कर दिया। इसको प्रायः बारह शाखाओं वाले वृक्ष के रूप में उपस्थित किया जाता है। दैवीय ज्ञान का यह वृक्ष अन्वेषकों का सही मित्र है, इससे सांसारिक जीवन के सभी दु:ख और कष्टों से मुक्ति

मिल जाती है। यह केवल एक coincidence ही नहीं है, जिसे हम बाइबिल में पढ़ते हैं - इसके मध्य में जीवन का एक वृक्ष था, जिसने 12 प्रकार की फल दिए और जिसकी पत्तियाँ राष्ट्रों को स्वस्थ करने के लिए थीं। इसका अभिप्राय बाइबिल के दूसरे भाग से स्पष्ट हो जाता है। (Proverbs, III, 13-18) जिसे ज्ञान प्राप्त हुआ वही मनुष्य प्रसन्न है। उसके मार्ग सदैव रमणीयता के हैं, उसके प्यारे मार्ग शान्ति दायक है। वह उनके लिए जीवन का वृक्ष है, जिन्होंने उसे पकड़ा है।"

दैवीय उपदेश के तुरन्त बाद बहुत से नरनारियों ने भगवान के मार्ग का अनुसरण करने का निश्चय किया। इनमें सर्वप्रथम वृषभसेन था, वह भरत के छोटे भाईयों में एक था। वह जगद्गुरु की बज्रजंघ की पर्याय में विश्वासपात्र पुरोहित था। वह भगवान् का पहला गणधर हुआ। इसी तरह सोमप्रभ और श्रेयांस, जिनके महल में भगवान् ने सबसे पहले अपना उपवास तोड़ा था दो गणधर हुए। जगद्गुरु की बड़ी पुत्री ब्राह्मी पहली आर्यिका हुई। भगवान् की दूसरी पुत्री सुन्दरी ने भी संसार त्याग कर दिया और आर्यिकाओं की बहिन बन गई। एक मनुष्य जिसका नाम श्रुतकीर्ति था, पहला, श्रावक बना तथा एक पवित्र नारी, जिसका नाम प्रियव्रता था, भगवान की पहली श्राविका हुई। भरत का एक दूसरा भाई, जिसका नाम अनन्तवीर्य था, तत्काल साधु हो गया। काल के इस अर्द्धचक्र में उसका सबसे पहले निर्वाण हुआ। इनसे हम पहले ही मिल चुके हैं और सिंह की पर्याय से उनके जीवन की कहानी को भी जाना है दूसरे बहुत से लोग संघ में आ गए। वे सब मृत्यु तथा दुर्भाग्य की सतत दासता से मुक्ति चाहते थे। चारहजार प्रमुख तथा सामन्त, जिन्होंने ऋषभदेव के साथ संसारत्याग कर दिया था और जो तपश्चरण से भ्रष्ट हो गए थे, पुन: उनके पास वापिस आ गए और संघ में प्रविष्ट हो गए, जब कि मरीचि ने अपने को बाहर रखा और अपने आपको एक गुरु के रूप में स्थापित किया।

भरत के जाने के बाद, प्रथम स्वर्ग को इन्द्र भगवान की प्रशंसा हेतु उठ खड़ा हुआ। उसने एक स्तुति बनाई जिसमें उसने उन पवित्रात्मा का 1008 पवित्र नामों से वर्णन किया।

देवों ने जगद्गुरु की अपने नेता के द्वारा इन शब्दों में प्रार्थना की - "हे देवों के अधिपति, हे जीवों के संरक्षक ! हे जीवन के रक्षक, हे समस्त प्राणियों को आनन्द प्रदान करने वाले ! भव्य जीवों को विश्व के दूसर भागों में आपके दैवीय उपदेश की आवश्यकता है। वे सूखी हुई फसल के समान हैं, जो वर्षा के बिना मुर्झा जाती है और वर्षा से पुनरुज्जीवित हो जाती है। क्या अब आप उन्हें प्रबुद्ध करने करने के लिए आगे आयेंगे ?

तत्काल एक जूलूस को रूप दिया गया। भगवान् अपने दैवीय मिशन (धर्मप्रचार) के लिए आगे बढ़ रहे थे। उन्हें देव तथा मनुष्य घेरे हुए थे। उस समय के दृश्य बड़े उत्साहवर्द्धक तथा स्वर्गीय शान शौकत से.युक्त थे। देव लोग जगद्गुरू को गौरव प्रदान करने के लिए आपस में मिले थे।

❑❑❑

बाहुबली

> ऋषभो मेरुदेव्यां च ऋषभाद्भरतोऽभवत् ॥
> ऋषभोदत्तः श्रीः पुत्रे शालग्रामे हरिगतः ।
> भरताद्भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभूत् ॥
> भरतो दत्तल क्ष्मीकः शालग्रामे हरिगतः ॥12।

मरुदेवी से ऋषभ उत्पन्न हुए। ऋषभ से भरत उत्पन्न हुए। पुत्र को लक्ष्मी देकर ऋषभ ने शालिग्राम में निर्वाण प्राप्त किया। भरत से भारत वर्ष तथा सुमति हए। जिसे लक्ष्मी दी गई थी, ऐसे भरत ने शालिग्राम में मोक्ष प्राप्त किया।

आग्नेयपुराण (हिन्दू) (VIII. 11-12)

भरत जब जगद्‌गुरु की पूजा के लिए गए तो भरत जाने से पहले उनके जीवन में तीन महान् घटनायें एक साथ हुई। जैसा कि अन्तिम पिछले अध्याय में वर्णन किया गया है। प्रत्येक अपने गर्भ में तात्कालिक महत्त्व को छिपाए हुए थी और अतुलनीय आनन्द को लाने वाली थी। उनमें से उनके दैवीय पिता द्वारा पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करना था। दूसरे उनकी आयुधशाला में जिसका प्रतिरोध करना बड़ा कठिन है, ऐसे चक्र का प्रकट होना था और तीसरे उनके पुत्र का जन्म होना था। वह समाचार को सुनकर हर्ष से भर गए। वे यह नहीं जान पा रहे थे कि दूसरों के सामने सबसे पहले किस घटना की खुशी मनायें। फिर भी उन्होंने तत्काल भगवान् के समवसरण में पूजा हेतु जाने का निश्चय किया, क्योंकि भगवान की पूजा संसार में समस्त अच्छाईयों का स्रोत है। आजकल हम कहते हैं कि पुत्र के जन्म से या परिवार में किसी व्यक्ति की मृत्यु से कुछ दिन के लिए मनुष्य अपवित्र और भगवान की पूजा के अयोग्य हो जाता है, चाहे वह घटना बड़ी दूर विदेश में ही घटित हुई हो। भरत इस प्रकर के मामलों में अपने आपको कठिनाई में डालने के लिए रूके नहीं। शायद उनके समय में निषेधाज्ञायें अज्ञात थीं। निश्चित रूप से देव या देवाधिदेव की पूजा समस्त सौभाग्यों का लाने वाली है अतः किसी भी अवसर पर इसका निषेध वाञ्छनीय नहीं है। उपर्युक्त परिस्थितियों में पूजा के सार्वजनिक स्थल पर जाने के निषेध का कारण खोजना कठिन नहीं है। यह मन्दिर में अत्यधिक हलचल और व्यवधान का कारण हो सकता है, यदि वह अपने परिवार के किसी सदस्य के जन्म या मृत्यु के तुरन्त बाद जांता है। मनुष्य जो कुछ घटित हुआ है, उसे जानने के इच्छुक होंगे और घटना के विषय में विशेष रूप से बातचीत करने की रुचि रखेंगे, चाहे वह घटना अच्छी हो या बुरी इस समस्त कोलाहल तथा हलचल से बचना ही पूजकों के प्रवेश के विरूद्ध नियम बनाने का उद्देश्य था, जिससे कि पूजा में व्यवधान का अवसर न आए। यही बात स्त्रियों के मासिक धर्म के समय मन्दिर में जाने के विषय में रही होगी, क्योंकि लापरवाह स्त्री के कपड़े पर का खून या खून की बूंदें फर्श या आंगन में पड़ने से पूजा का स्थान कुरुप हो

जायगा। आजकल इन नियमों के कारण भुला दिए गए हैं और यही कारण है कि हम इस प्रकार की निषेधाज्ञा को तोड़ना धर्म, मर्यादा तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए घातक मानते हैं।

जब भरत घर पहुँचे, वे पहले अपनी आयुधशाला में गए जहाँ उन्होंने अपना गौरवपूर्ण चक्र देखा। अनन्तर वे अपने पुत्र को देखने गए। उन्होंने नवागन्तुक का पितृप्रेम से स्वागत किया अनन्तर वे अपने सभाभवन की ओर गए जहाँ उन्होंने विश्वविजय करने हेतु शिविर जीवन को अपनाने का निर्णय किया।

बहुत वर्षों के अन्तराल के बाद भरत विश्वविजय से लौटे। वे बहुत सारे राजाओं से अपहृत तथा भेंट में प्राप्त बहुमूल्य उपहारों से पूर्ण थे। उन राजाओं ने उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की थी। वे पराजित शत्रुओं की बहुत सारी राजकुमारी पुत्रियों से, जिनसे उन्होंने विवाह किया था, युक्त थे। इन महिलाओं में से बहुत सी म्लेच्छ जाति की थीं, किन्तु भरत उन्हें स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाए। एक समय इस प्रकार के विवाह बड़े सामान्य थे, किन्तु अब वे प्रचलन में नहीं रहे। एक म्लेच्छ राजकुमारी से विवाह करने वाला चन्द्रगुप्त था, जो कि लगभग 2200 वर्ष पूर्व हुआ था। उसने, जैसा कि इतिहास कहता है यूनानी सेनापति सेल्यूकस निकोनार की पुत्री से विवाह किया था। चन्द्रगुप्त सामान्य जैन नहीं था, वह श्री भद्रबाहु का प्रिय शिष्य था। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे (जो श्रुत नामक परोक्ष ज्ञान के द्वारा सब कुछ जानते हैं, वे श्रुतकेवली कहलाते हैं)। यहां उन लोगों को बताने की यथार्थ खाद्यसामग्री है। जो रक्त के कारण उच्चता में विश्वास करने की भावना से जकड़े हुए हैं। भिन्न-भिन्न व्यवसायों में तुलनात्मक स्वच्छता तथा मनुष्य की आदतों के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है, किन्तु शुद्ध भावुकता के वश उच्चतर स्तरों का मनमाना मूल्याङ्कन नहीं करना चाहिए। यदि एक लड़की उच्च वर्ण के व्यक्ति से शादी चाहती है, तो यह काफी है, यद्यपि मनुष्य सामान्यतया ऐसा करता नहीं है। एक लड़की जो कि विशुद्ध वातावरण में प्रवेश करती है, वह अपने निम्न जुड़ावों से अलग हो जाती है और शीघ्र सुधार करती है। इसके विपरीत स्थिति में जब कन्या निम्न वर्ग में जाती तो स्थायी रूप से अपने आपको घटिया कर देती है। यह सूच्य है कि लड़की अपनी शादी के बाद पूरी तरह से पैतृक वंश को त्याग देती है, किन्तु मनुष्य के विषय में ऐसा नहीं है जहाँ तक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उच्च वर्णों का सम्बन्ध है, विवाद विशुद्ध रूप से शैक्षणिक है। व्यापारियों के विरूद्ध पूर्वाग्रह अभिजात्य वर्ग उनके विरुद्ध हर जगह द्वार बन्द करने का नेतृत्व करता है। पुराणों में वैश्यों द्वारा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय कन्या से विवाह के बहुत से उदाहरण हैं। कठिनाई का अनुभव शूद्र और उच्च वर्णों के अन्तर्जातीय विवाह के मध्य आती है, किन्तु भरत और चन्द्रगुप्त के उदाहरण यह प्रदर्शित करते हैं कि भूतकाल में किस प्रकार चलन था।

अपनी राजधानी को वापिस लौटने पर भरत ने अपने भाइयों से अधीनता स्वीकार करने की मांग की, जिसे स्वाभाविक रूप से मना कर दिया गया। किन्तु बाहुबली को छोड़कर सभी ने यह अनुभव किया कि वे युद्धक्षेत्र में भरत का सामना नहीं कर सकेंगे, अत: उन्होंने अवमानित होने से बचने के लिए अपने स्थान पर अपने पुत्रों को राजसिंहासन पर बैठा दिया। दूसरी ओर बाहुबली ने खुले रूप में चक्रवर्ती से विरोधसूचक कथन कहे और उन्हें युद्ध के लिए चुनौती दे दी। भरत ने बाहुबली के इसे बाहुबली का भाईचारे से रहित व्यवहार मानकर रोष किया। और

बाहुबली के विरुद्ध एक विशाल सेना का नेतृत्व करते हुए प्रयाण किया। दोनों सेनायें अन्त में एक दूसरे के आमने सामने आईं।

खुले शत्रुता पूर्ण युद्ध से पूर्व दोनों ओर के मन्त्री आपस में यह देखने के लिए मिले कि किसी प्रकार अवाञ्छनीय खून खराबा न हो। उनमें तय हुआ कि सामान्य रूप में युद्ध के लिए प्रयाण करना निरर्थक रहेगा ''उन्होंने कहा ये भाई स्वयं किसी भी उपाय से मारे नहीं जा सकते हैं। संसार में इनका अंतिम जन्म है तथा इनका शरीर ऐसा है कि युद्ध में किसी शस्त्र से घायल नहीं हो सकते। अत: इन्हें दूसरे उपायों से इस मामले में युद्ध करना चाहिए। यह निश्चय किया गया था कि वे अपने विवाद को तीन प्रकार के युद्धों से हल करें -

1 - दृष्टि युद्ध 2. जलयुद्ध तथा। मल्लयुद्ध

उपर्युक्त समस्त युद्धों में बाहुबली ने भरत पर विजय पाली, किन्तु अन्तिम युद्ध में भूमि पर फेकने की अपेक्षा उन्होंने उन्हें अपने कन्धों पर उठा लिया और सज्जतापूर्वक भूमि पर रख दिया; क्योंकि वे उम्र में तथा पद में खड़े थे। भरत इससे कुद्ध हो गए और उन्होंने शीघ्र ही अप्रतिरोधी चक्र को अपने पास रखा। चक्र रोशनी की चमक के समान खाली आकाश में सनसनाया, किन्तु इसने बाहुबली पर प्रहार नहीं किया। उन पर प्रहार करने के स्थान पर इसने उनकी प्रदक्षिणा की और तब उनके सामने आकार विश्राम ले लिया। बाहुबली जीत चुके थे। भयानक चक्र के इस विचित्र व्यवहार का कारण शायद बाहुबली का व्यक्तिगत चुम्बकीयाकर्षण था जिसने चक्र को भी अपने आधीन कर के उसको स्वयं से दूर रहने पर विवश कर दिया।

उपस्थित लोगों ने भरत के व्यवहार को पसन्द नहीं किया। बाहुबली संसार के प्रति घृणा से भर गए, जिसकी उत्तेजना ने भरत जैसे अच्छे व्यक्ति को भी उत्तेजित कर दिया। उन्होंने कहा- भाई ! मेरा राज्य तुम्हारे लिए है। ललचाने वाली परछाई से युक्त इस संसार का अब मुझे कुछ नहीं करना। ऐसा कहकर उन्होंने संसार त्याग कर दिया और जगद्गुरु के पास गए, जो कि उस समय कैलाश पर्वत पर चले गए थे। बाहुबली ने भगवान् के पवित्र चरणों की पूजा की और वस्त्रादि समस्त वस्तुओं का परित्याग कर अनगार साधुओं के संघ में प्रविष्ट हो गये। अपने भाई के सन्यास पर भरत का हृदय सुकोमल हुआ, उसने अपने अविवेकपने के लिए क्षमा याचना की। किन्तु उन्हें अपने सुदृढ़ निर्णय से मना नहीं कर सके।

एक वर्ष तक बाहुबली ने कठिन तप किए। वे अविचलित होकर आत्मचिन्तन में लीन होकर खड़े रहे। इस अवधि में उनके ऊपर बेलें चढ़ गई। उनके ऊपर चीटियों ने अपनी बाँबी बना ली। इतना तप करने पर भी वह एक छोटी सी शल्य से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सके कि वे भरत की भूमि पर खड़े हैं। यह शल्य उनके मार्ग में आड़े आई तथा चार घातिया कर्म नष्ट नहीं हो सके। अन्त में वर्ष की समाप्ति पर उनके मन में यह बात आई कि सामान्य भूमि का साधु उपयोग कर सकते हैं, इससे वे किसी प्रकार निम्न नहीं हो जाते। लगभग इसी समय भरत स्वयं पूरी नम्रता से उनके पास आए और उनकी श्रद्धा और आदरपूर्वक पूजा की। बाहुबली तब अपने विचारों में बाधा डालने वाले तत्त्व को दूर करने के योग्य हुए तथा अपने प्रयत्नों से शीघ्र ही घातिया कर्मों के नाश करने में सफल हुए। एक दूसेर बयान के अनुसार वह विचार

जो कि बाहुबली के ध्यान में बाधा डाल रहा था, एक शल्य के रूप में था कि वे अपने बड़े भाई की अवमानना में कारण बने। यह शल्य तब दूर हुई जब भरत आए और श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा की।

मन के प्रशान्त होने तथा कषाओं के दूर होने पर बाहुबली ने सर्वज्ञता प्राप्त की। अब देव तथा मनुष्य उनकी पूजा करने तथा उपदेश सुनने के लिए आए। कुछ समय तक उन्होंने धर्म के सिद्धन्तों का प्रचार किया और अन्त में कैलाश पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया। अब वे नित्य जीवन के अनन्त सुख का उपयोग कर रहे हैं। उनमें अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान तथा अन्य दैवीय गुण हैं तथा कालान्तर में भी वे इसी स्थिति में रहेंगे।

❑❑❑

भरत

बहुत मजबूत घर है आकेबत का दार इ दुनियाँ से
उठा लेना यहाँ से अपनी दौलत और वहाँ रखना ।

इस दुनियाँ की अपेक्षा अगली दुनियाँ का घर अत्यधिक सुरक्षित है । तुम्हें यहाँ से अपनी दौलत उठाकर वहां (दूसरी दुनियाँ में) रखना चाहिए ।

बहुत से लोग कहते हैं कि विनम्र सौभाग्यशाली हैं; क्योंकि वे दुनियाँ के उत्तराधिकारी हैं। यह भरत थे, जिन्होंने इसका अनुभव किया । मनुष्य सुनते हैं कि सन्यास का फल करोड़ों गुना है । भरत ने अथार्थ रूप में इसका अनुभव किया था ।

भरत के पास अनन्त धन था । कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जो कि उनके खजानों की गिनती कर सकता । उनके पास अगणित बहुमूल्य रत्न थे । उनका घोड़ा, उनका हाथी, उनके युद्ध तथा दूसरे प्रकार के रथ करोड़ों की संख्या में थे । जब वे युद्ध में जाते थे तो विशाल सेना उनका अनुसरण करती थी । हजारों बड़े राजा और दस हजार माण्डलिक और सामन्त उनके अनुयायी होने पर गर्व करते थे । उन दिनों कोई भी स्वतन्त्र राजा नहीं था, जो भरत का प्रतिद्वन्द्वी हो । उनके अधीन राज्य दुनियाँ भर में फैले हुए थे । उनका आधिपत्य भूमि तथा समुद्र पर था । उन्होंने बड़े-बड़े पर्वतों को पार किया था और दूसरी ओर अपना अभियान सफलतापूर्वक चलाया था । कुछ पहाड़ी दरों का निर्देश है, जिनसे वे नए महाद्वीपों में प्रविष्ट हुए थे और उन प्रदेशों को अपने अधिकार में किया था ।

संसार पर जिन मनुष्य राजाओं ने भी शासन किया है, भरत उनमें निःसन्देह रूप से सबसे बड़े थे । उनसे बढ़कर सौन्दर्य किसी का नहीं था, उनके समान सौन्दर्य अपूर्व रूप में किसी 2 का था । उनकी सभा ज्योतिर्मय थी । प्रत्येक तड़क-भड़क की वस्तु पर उनका आधिपत्य था । बड़े-बड़े सेनापति और राजाओं में उनके प्रति आदर दिखलाने की होड़ लगी रहती थी ।

भरत का स्वभाव बड़ा शान्त था । वह अत्यधिक क्षमाशील और शान्तिपूर्ण थे तथा उनमें सज्जननता की भावना थी, जो कि बहुत मनोमुग्धकारी थी । बाहुबली के साथ शक्तिपरीक्षण में असफल होने पर जब चिढ़ गए थे, सम्भवतः केवल वही समय था; जब वे अपने को भूल गए थे, किन्तु प्रायः तत्काल ही इसका उन्हें पश्चात् हुआ था इस हेतु बाद में जब बाहुबली सन्त हो चुके थे तो उनकी पूजा के लिए जाकर अपनी भूल का पर्याप्त सुधार कर लिया था । यह प्रदर्शित करता है कि उनके हृदय में कोई क्षोभ नहीं था, चिढ़ का दौर पूरी तरह बिना कोई दाग छोड़े विलीन हो गया था ।

भरत पूरी तरह से योग्य सम्राट थे । उनके निष्पक्ष निर्णय ने उनके अधीन लोगों में श्रद्धा भर दी थी, जबकि उन्होंने अपने पुत्र को भी फटकारा तथा उसके बुद्धिहीन कार्य की (बिना किसी

समझौते के नियम पालन करने के अपने स्वभाव के कारण) भर्त्सना की। यह घटना एक युवती राजुकमारी के स्वयंवर में घटित हुई थी, जहाँ कि उनका पुत्र अर्ककीर्ति भी उपस्थित था। उन दिनों वाराणसी के राजा गौरवशाली नाथवंश के संस्थापक थे। उनका नाम अकम्पन था। उनकी एक पुत्री थी, जो इतनी अधिक कुशल और सुन्दर थी कि शब्दों के द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जब वह बड़ी हुई तब उसके पिता ने अपने मित्रों और शुभचिन्तकों से सलाह ली तथा एक स्वयंवर का आयोजन किया (स्वयंवर = स्वयं वर का चुनाव करना)। इस प्रथा की विश्व की क्षत्रिय जाति में पहले से चलन था। बहुत सारे राजकुमार और प्रमुख लोग एकत्रित हुए। इनमें चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति तथा सोमप्रभ (जिनके घर भगवान् ने इक्षुरस का आहार लिया था) के पुत्र जयवर्मा उल्लेखनीय थे।

सुन्दर राजकुमारी, जिसका नाम सुलोचना था, ने जयवर्मा के गले में माला डाल दी, जो कि इस बात का चिन्ह थी कि वह उसे वरीयता देती है। इससे अर्ककीर्ति उत्तेजित हो गया; क्योंकि इसे उसने अपना तथा अपने प्रख्यात पिता का अपमान माना उसने जयवर्मा तथा अकम्पन को युद्ध के लिए चुनौती दे दी। ये राजा चक्रवर्ती के प्रति बहुत आदरवान् थे तथा उनके अविवेकी पुत्र से प्रेम करते थे, अतः उन्होंने हर संभव इस प्रकार का कार्य करने से मना किया, जिसे वह करने जा रहा था। किन्तु उनके सारे प्रयत्न निष्फल थे। अर्ककीर्ति युद्ध को तत्पर हो गया तथा उसने उनकी अनुनय, विनय नहीं सुनी।

जो युद्ध हुआ, उसमें हस्तिनापुर तथा वाराणसी की संयुक्त सेनायें विजयी हुई, किन्तु अकम्पन का यथार्थ में एक जैन हृदय था। उसने युवक राजुकमार को मना लिया उसे अपनी छोटी पुत्री अक्षमाला दे दी। अर्ककीर्ति ने अपनी वधू के साथ जाने के बाद जयवर्मा और सुलोचना उचित शानशौकत से मिले।

जब भरत ने अपने युवा पुत्र के दुर्व्यवहार के विषय में सुना तो वे उस पर बहुत कुपित हुए तथा प्रतिरोध के लिए जयवर्मा और अकम्पन की बहुत प्रशंसा की। अन्तिम रूप में समस्त सम्बन्धित पक्षों ने इसे एक अच्छी घटना माना,, जिसने अयोध्या और हस्तिनापुर के दो राजभवनों के मध्य मैत्री सम्बन्ध को मजबूत कर दिया।

वर्तमान काल के अर्द्धचक्र के भरत प्रथम कानून प्रदाता थे। उसने क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णों को उन कर्त्तव्यों का निर्देश दिया। जो उनके अनुरूप थे, उन्होंने बहुत सी बातें सिखलाई। इस कारण वे सोलहवें मनु के रूप में जाने गए। पन्द्रहवें मनु ऋषभदेव जी थे। उन्होंने जो नियम बनाए, उनसे उपासकाध्ययन अङ्ग का भाग बना, जो अब केवल आंशिक रूप में उपलब्ध है। एक बिन्दु, जो कि उन्होंने दिया तथा जो जो तन्त्रों से भिन्न है, जो कि भारत में अब प्रचलित है, वह नारी की स्थिति के सम्बन्ध में है। उन्होंने नारी को अपने पति की सम्पत्ति का पूर्ण उत्तराधिकारी बनाया और पुत्र के पूर्व उसका स्थान रखा। इसका प्रभाव आश्चर्यजक था, क्योंकि इसने पुत्र को आलसी होने से बचा लिया तथा उसे कर्म और व्यापार में दक्षता प्राप्त करने की शिक्षा दी तथा उसकी आदतें आनन्दप्रद हो गई। संयुक्त परिवार में पुत्रों के लिए बेकार पड़े रहने की आदत है, अपवाद बहुत कम है। एक तन्त्र में बेढंगे रूप में विकसित हो सकती है, किन्तु दूसरे तन्त्र में इसका समर्थन कुछ नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के समय में तीन प्रकार के दण्ड ज्ञात थे (1) दैहिक दण्ड (2) शारीरिक रुकावट (बन्दी बनाना) तथा (3) आर्थिक जुरमाना। भरत यह जानते थे कि किस

प्रकार न्याय को दया के साथ नियन्त्रित किया जा सकता है । उन्होंने ऐसा करने की दूसरों को भी शिक्षा दी । उन्होंने विभाजन को प्रोत्साहित किया, क्योंकि व्यक्ति के गुण वृद्धिगत होते हैं । उन्होंने वसीयत तथा न्यासों को मान्यता दी ।

ऐसा कहा जाता है कि भरत ने धर्म के अनुयायियों के लिए 53 क्रियाओं की नींव रखी। इन क्रियाओं का वर्णन उन्होंने उस समय किया, जब वे ब्राह्मण वर्ण को अस्तित्व में लाए । उन्होंने ब्राह्मणों को यज्ञोपवीत से चिन्हित किया, जिसमें प्रतिमाओं की संख्या के अनुसार एक या अधिक लड़ी होती थी । (प्रतिमा = गृहस्थ धर्म पर आगे बढ़ने की सीढ़ियाँ) । इस प्रकार जिसने सात लड़ी वाला धागा पहिना था, वह सातवीं प्रतिमा वाली ब्रह्मचारी थी तथा जिसने ग्यारह लड़ी वाला धागा पहिना था वह ग्यारवीं प्रतिमा वाला था, जो कि गृहस्थ धर्म की अन्तिम सीढ़ी है । यह सन्यास से पूर्व की सीढ़ी जब वह कटिवस्त्र धारण करना छोड़ देता है तो सन्यासी हो जाता है । कटिवस्त्र गृहस्थ तथा मुनि धर्म के बीच की सीमा रेखा है ।

दूसरे लोगों के ब्राह्मणों के सामने मौलिक रूप में जो आदर्श स्थापित किए गए थे, वे निम्नलिखित हैं -

1. उन्हें नियमित और विशिष्ट पूजन में अपने आपको लगाना चाहिए ।
2. उन्हें अपनी आजीविका असि, मषि, कृषि तथा वाणिज्य से करना चाहिए, किन्तु हस्तशिल्प या संगीत तथा गीत जैसे व्यवसायों से नहीं ।
3. उन्हें दान देने की आदत डालना चाहिए ।
4. उन्हें अपने को श्रुत के अध्ययन में लगाना चाहिए ।
5. उन्हें समता तथा आत्मसंयम का अभ्यास करना चाहिए तथा विभिन्न प्रकार के प्राणियों की रक्षा करना चाहिए ।
6. उन्हें किसी रूप में तपश्चरण का अभ्यास करना चाहिए ।

इस प्रकार किसी ब्राह्मण के लिए व्यापार करना या सैनिक बनना या साहित्य निर्माण करना अथवा भूमि जोतने का भी निषेध नहीं था । उससे यह अपेक्षा थी कि उन व्यवसायों को छोड़े, जो यद्यपि स्वयं में बुरे नहीं थे, किन्तु जिन्हें उच्चवर्ग के लोग स्वीकार नहीं करते थे । यदि वह दूसरे के द्वारा दिए गए दान को स्वीकार नहीं करता था तो उसका आत्म सम्मान उसे निश्चिंतता प्रदान करना था । आजकल यह सब बदल गया है और आजकल का ब्राह्मण अकबर के कथानानुसार पीर, बवर्ची, भिस्ती, खर सभी की भूमिका अदा करता है ।

दूसरा बिन्दु, जिस पर आज का ब्राह्मण अपने पूर्वज से भिन्न है, यह है कि प्राचीन ब्राह्मण पवित्र धागे को तब तक धारण नहीं करते थे, जब तक कम से कम पहली प्रतिमा को धारण न कर लें, किन्तु आजकल इसे न केवल सभी ब्राह्मण धारण करते हैं, अपितु तीनों उच्च वर्गों के सभी सदस्य धारण करते हैं तथ्य यह है कि भरत चक्रवर्ती के काल में ब्राह्मण वर्ग नहीं था । कोई भी व्यक्ति जो प्रतिमा पालन कर पवित्र धागे को स्वयं धारण करता था, वह अपने आपको ब्राह्मणत्व के योग्य बनाता था । शूद्रों को प्रतिमा पालन का निषेध नहीं था ।

ब्राह्मण वर्ग की स्थापना का कारण दान के योग्य पात्र को पाना था । यह दान गृहस्थ प्रतिदिन करता था । भरत जो स्वयं अनन्त धन का उचित उपयोग कर पुण्य अर्जित करना चाहते थे, ने इस वर्ग की स्थापना की । यह पुण्यशाली मनुष्यों का सम्प्रदाय था। भरत ने उनके आत्मिक स्तर के उत्थान को निर्दिष्ट करने के लिए पवित्र धागे दिए । जो कोई भी व्यक्ति धर्मपालन नहीं करता था,

वह जन्म से ब्राह्मण नहीं कहलाता था, ऐसा आदिपुराणकार ने कहा है । सभी मनुष्य आपस में समान हैं, किन्तु वे आध्यात्मिक स्तर पर उन्नति की अपेक्षा भिन्न हैं ।

हिन्दू वास्तव में जैन ही हैं, वे असंतुष्ट जैन नहीं है, वे प्रतीक भाषी जैन हैं । रुपक परम्परा के जनक हिन्दुओं ने वर्णाश्रम संस्था का भी रुपकूकरण कर दिया । कुछ समय बाद इस रुपक के पीछे छुपी शिक्षा का मूल रूप लुप्त हो गया, और वर्णाश्रम को जन्मगत भिन्नताओं पर आधारित समझा जाने लगा ।

यह कारण है, क्यों हिन्दू जैनों को दोष देते हैं और उन पर वर्णहीनता का दोषारोपण करते हैं या वर्णव्यवस्था का नाशक कहते हैं ।

आदिपुराण के लेखक ने सम्भवत: अत्याचार के समय ब्राह्मणों को शान्त करने के लिए उन्हें महत्त्व दिया, यही कारण है कि वह भाषा अस्पष्ट है । भरत का क्षत्रियों को वरीयता देना आदिपुराण के ब्यालीसवें पर्व की भाषा से स्पष्ट है, किन्तु वे उनके विषम में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उत्तमता या श्रेष्ठता का गुणों से है, जन्म से नहीं। भरत कहते हैं कि जो भी जैनधर्म में प्रविष्ट होता है और व्रतों को अङ्गीकार करता है, क्षत्रिय है । अपराध करने पर भी ब्राह्मणों को विशेष छूट मिलने का सिद्धान्त स्वयं ब्राह्मणों का है । यह उस समय का है जब उन्होंने बाद में शक्ति प्राप्त कर ली । किन्तु इसका कारण भरत की अन्त:प्रेरणा भी हो सकती है, यदि हम स्मरण करें कि भरत के सभी ब्राह्मण साधु श्रावक थे, जो कि अपने अपराधों का प्रायश्चित करने के इच्छुक होंगे तथा अपने कार्यों में भी पर्याप्त सुधार चाहते होंगे । अत: हम सरलता से कल्पना कर सकते हैं कि न्याय ने उनके अपराध के प्रति नर्म रुख अपनाया होगा । और एक पवित्र राजा, पूरी तरह से दुर्भाग्यशाली अपराधी को जब क्षमा करता होगा तो सम्भवत: इस प्रकार के मामले में दया हेतु एक सामान्य याचिका होती होगी, जिसमें चोट खाया हुआ मनुष्य या उसके उत्तराधिकारी भी शामिल न हों ऐसी सम्भावना नहीं है । भरत ने अपनी प्रजा को जो धार्मिक अनुष्ठानों की कार्ययोजना सिखलाई उसकी आधरभित्ति आजकल के Law of Suggeseon पर पूरी तरह अधिष्ठित है। जीवन के बहुत पूर्व में ही व्यक्ति को इस बात से प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता रहा होगा कि वह समस्त जातियों में श्रेष्ठ (आर्य) है और वह बड़ा आदमी होने जा रहा है यहाँ तक कि चक्रवर्ती और तीर्थंकर भी हो सकता है । उत्सवों के समय जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनका भी यही उद्देश्य रहा होगा क्योंकि उनका झुकाव जीव के देवत्व तथा धर्म के सिद्धान्तों की ओर है इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं है कि एक बच्चा जो इस प्रकार के शक्तिपूर्ण सुझावों के प्रभाव में बड़ा हुआ है, वह शीघ्र या बाद में उस महानता को प्राप्त या प्रदर्शित करे, जिससे उसकी कल्पना प्रभावित हुई थी । आर्य संस्कारों में संस्कारों की अधिकता से गणना होती है, वे जीवन को बिना किसी सन्देह के बना भी सकते हैं, बिगाड़ भी सकते हैं, यह पुन: कहा जा सकता है कि इन धार्मिक अनुष्ठानों तथा मन्त्रों के उद्देश्य को आधुनिकों ने पूरी तरह से गलत समझा है । वे सोचते हैं मन्त्रों में स्वयं शक्ति है । किन्तु गलत रूप में समझे गए फार्मूले किसी की महानता की प्राप्ति में कैसे मदद कर सकते हैं ? अकेले आवाज (मन्त्रों की भाषा समझी नहीं जा सकती) की गणना किसी में नहीं है । किसी के मन को मन्त्र बिना समझे प्रभावित करते हैं, यह आशा करना मूर्खतापूर्ण है। छोटे बच्चे से तो बिल्कुल ही यह आशा नहीं करनी चाहिये। फिर कुछ फुसफुसाई गई आवाजें मात्र उन संकेतों के विरुद्ध कितनी प्रभावी हो सकती हैं जो विपरीत अर्थ की बोधगम्य बातें बच्चे के कान में प्रतिदिन लगातार जोर जोर से दोहराते हैं । क्योंकि घर के संस्कार पूर्ण होने पर जैसे

ही चकित बालक बाहर की दुनियाँ में जाता है उसके साथी व मित्र उसके मन में यह बात बैठाने में कोई कसर नहीं छोड़ते कि वह बड़ा मूर्ख है, मन्दबुद्धि है, गधा है, दुस्साहसी व शरारती है। आजकल सड़क की घटिया भाषा में संप्रेषित हानिकारक संकेत दरअसल अधिक गहरे बैठते हैं। इस प्रकार विकसित मनुष्य आर्यों के नाम पर धब्बे के सिवाय कुछ नहीं होते। ऐसा इसलिए होता है कि ये हानिकर संकेत बोधगम्य भाषा में लगातार प्राप्त होते हैं, जबकि स्वस्थ संकेत अपनी दुर्बोध प्रतीकात्मकता की धुंध में खो जाते हैं। और भी हानि हो उससे पहले ही हमें संभल जाना चाहिए।

भरत अवधिज्ञानी थे, यह उन्हें उस समय प्रकट हुआ था, जब वे जगद्गुरु की पूजा के लिए गए। उन्होंने मनुष्यों को निमित्त ज्ञान की शिक्षा दी जो कि भविष्य कथन का विज्ञान नहीं है, कुछ घटनाओं की उनके लक्षणों या निमित्तों के आधार पर भविष्यवाणी करना है। उन्होंने मनुष्यों को ज्योतिष और औषधिविज्ञान की भी शिक्षा दी। भरत हाथी और घोड़ों के कुशल स्वामी और पूरे पारखी थे। वे उनके सभी चिह्न और बीमारियों को जानते थे, जिसमें उन्होंने अपने आदमियों को शिक्षित बनाया।

जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है, भरत पूर्ण हृदय से अपने पिता के भक्त थे, जिनकी प्रतिमा उन्होंने अपने हृदय की वेदी में विराजमान कर रखी थी। जहाँ वे उनकी रात-दिन पूजा करते थे, जब कभी वे ऐसा करने का समय पाते थे। बचपन से ही संसार त्याग की भावना से भरे हुए, उन्होंने श्रावक के पाँच व्रत अपने जीवन के प्रारम्भ में ही अङ्गीकार किए थे और उनका निरचार पूरे जीवन पालन किया था, चाहे वे घर में रहे हों या युद्ध क्षेत्र पर। वे संसार में रहे, किन्तु उससे संपृक्त नहीं रहे, जैसा कि सामान्य व्यक्ति रहता है। सन्त हृदय वाले उन्होंने स्वयं को इन्द्रियासक्ति पर नहीं छोड़ा या अपनी प्रकृति पर पशुता हावी नहीं होने दी। वे जानते थे कि क्षत्रिय के लिए पहली बड़ी चीज अपनी बुद्धि की सुरक्षा करना है। सम्यग्ज्ञान से व्यक्ति तीर्थंकर के गौरव को प्राप्त कर सकता है और मिथ्याज्ञान से मृत्यु के बाद निम्न रूप में उसका पतन हो सकता है। इसी कारण भरत किसी चीज से हतप्रभ नहीं थे। संक्षिप्ततः वे सदैव यह जानते थे कि किसी दी हुई परिस्थिति में क्या करना चाहिए। वे जटिल और दुर्बोध समस्याओं को आराम से सुलझा देते थे। जिससे वे सभी के प्रिय बन गए।

भरत में जैन धर्म के प्रचार के लिए धार्मिक उत्साह था। उन्होंने जैनधर्म और समाज में सभी लोगों के प्रवेश के लिए क्रियाओं की स्थापना की। नए धर्मान्तरित की जातियाँ भी उन्होंने स्थापित की। उनके समय म्लेच्छ भी बिना हिचकिचाहट या रुकावट के जैन धर्म में प्रवेश कर सकते थे।

अत्यधिक प्रख्यात पिता के पुत्र भरत इस प्रकार के थे। वे आर्यावर्त के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट तथा आर्य संस्कृति के संस्थापक थे। आर्य जाति के क्षेत्र के लिए उन्होंने अपना नाम दिया, जो अब भी है। जब तक जल के ऊपर भारतवर्ष है, तब तक भरत निःसन्देह रूप से लोगों की स्मृति में रहेंगे। वे वर्तमान कालार्द्धचक्र के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट होने की याद दिलाते रहेंगे।

❑❑❑

भविष्य की झाँकी

भरत ने ब्राह्मण वर्ग की स्थापना का जो कदम उठाया था, उससे उनके मन में कभी पूरा चैन नहीं मिला, क्योंकि वे जानते थे कि उनके पिता, जो कि इस कार्य को अच्छी तरह कर सकते थे, ने ऐसा करना उचित नहीं समझा। एक रात उन्होंने बहुत से स्वप्न देखे, जिन्होंने उन्हें थोड़ी चेतावनी दे दी तथा उन्होंने इन स्वप्नों की महत्ता के विषय में जगद्‌गुरु से पूछने का निश्चय किया। अत: वे कैलाशपर्वत की ओर बढ़े, जहाँ ऋषभदेव जी थे। उनकी पूर्ण विनय और भक्ति से पूजा की और अपने स्वप्नों का कथन किया। तथा नम्रतापूर्वक उनसे उनकी व्याख्या पूछी। उनसे कहा गया कि उनके स्वप्नों का सन्दर्भ अगले युग (पंचम काल) से है, जो अत्यधिक ह्रास तथा दुखों से चिन्हित होगा।

प्रथम स्वप्न तेईस सिंहों का दृश्य था, जो एक जंगल में दहाड़ते हुए एक पहाड़ी की चोटी पर चढ़ रहे थे। जगद्‌गुरु ने इसकी व्याख्या की कि चौबीस तीर्थंकरों में से तेईस तीर्थंकरों के समय जैन सन्त अपने तप के आदर्श में स्थिर रहेंगे तथा सन्तपने योग्य सिद्ध होंगे।

दूसरा स्वप्न एक सिंह का दृश्य, था, जिसका अनुसरण बहुत सारे मृग कर रहे थे। इसका तात्पर्य यह था कि अंतिम तीर्थंकर के समय सभी सन्त सन्तपने के उच्च आदर्श का पालन करने के योग्य नहीं होंगे तथा बहुत से गृहस्थ होंगे जो मिथ्या सिद्धान्तों का प्रचार और विस्तार करेंगे तथा शिथिल चारित्र की संस्तुति करेंगे।

तीसरे स्वप्न में भरत ने एक घोड़े को देखा, जो कि हाथी के भार को वहन कर रहा था। इसका तात्पर्य यह था कि पंचमकाल में सन्त व्रतों का ग्रहण अपनी सामर्थ्य और सहनशक्ति से अधिक करेंगे।

चौथे स्वप्न में बहुत सारी बकरियाँ सूखी पत्तियाँ चबाते हुए देखी गई, जिनसे सूचित होता था कि मनुष्य पंचमकाल में प्राय: सही धर्म के सिद्धान्तों को छोड़ देंगे और अपने व्रतों में दोष लगायेंगे।

अपने पाँचवें स्वप्न में भरत ने हाथी पर मनुष्य के स्थान पर बन्दर को बैठे देखा। जगद्‌गुरु ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की कि पंचमकाल में क्षत्रियों से राजपना छिन जायगा। तथा इसका उपभोग वे लोग करेंगे जो सही क्षत्रिय परम्पराओं से बहुत दूर होंगे, जैसे मनुष्य से बन्दर।

छठे स्वप्न में एक हंस बहुत से कौओं से आक्रान्त हो रहा था। इसका तात्पर्य यह कि दूसरे धर्म के लोग जैन सन्तों को सतायेंगे।

सातवें स्वप्न में बोने नृत्य कर रहे थे, इससे यह भविष्य सूचित होता था कि पंचमकाल में लोग सही देवों के स्थान पर भूत प्रेतों की पूजा करेंगे।

अगले स्वप्न (अष्टम) में एक तालाब देखा गया, जो कि चारों ओर जल से भरा था, किन्तु मध्य में सूखा था। इसका मतलब था कि धर्म आर्यावर्त से लोप होकर आस पास के क्षेत्रों में, जो म्लेच्छों के अधिकार में होंगे, फैलेगा।

अगले स्वप्न (नवम) में रत्नों का ढेर देखा गया, जिसके ऊपर धूल ढकी हुई थी। यह इस बात का संकेत था कि पंचम काल में सन्त शुक्लध्यान प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

दसवें स्वप्न में एक कुत्ता मिठाई खाते हुए दिखाई दिया तथा लोग उसकी पूजा कर रहे थे इसका मतलब यह था कि नीच वर्ग के लोग पूजनीयों के समान प्रदर्शित होंगे। और लोगों द्वारा यथार्थ रुप में पूजे जाँयेंगे।

अगले (ग्यारहवें) स्वप्न में एक रँभाता हुआ साँड देखा गया। इसका तात्पर्य था कि पंचमकाल में प्रायः लोग वृद्धावस्था के बजाये युवावस्था में पवित्र धर्म धारण करेंगे।

बारहवें स्वप्न में भरत ने चन्द्रमा को अस्पष्ट धूलि कणों से घिरा देखा। इसका तात्पर्य था कि पंचमकाल में साधुओं को अवधि और मनः पर्ययज्ञान भी नहीं होंगे।

अगले (तेरहवें) स्वप्न में दो बैल साथ-साथ जाते हुए देखे गए। इससे यह अर्थ द्योतित होता था पंचम काल में सन्त एकलविहार कर चारित्र की शुद्धता को नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

अगले (चौदहवें) स्वप्न में सूर्य बादलों से आच्छादित देखा गया। इसका तात्पर्य था कि पंचमकाल में कोई भी सर्वज्ञता प्राप्त नहीं कर सकेगा।

एक सूखा वृक्ष, जिसकी छाया नहीं पड़ रही थी अगले (पन्द्रहवें) स्वप्न का विषय था। इसका तात्पर्य था कि पंचमकाल में प्रायः लोग प्रायः धर्म को छोड़कर अधार्मिक हो जायेंगे।

सोलहवाँ और अन्तिम स्वप्न सूखी पत्तियों का दृष्य था, जिसका तात्पर्य था कि बड़ी औषधियों की भी शक्ति अन्त में कम हो जायेगी।

जहाँ तक ब्राह्मण वर्ग की स्थापना की बुद्धि की बात है, भरत से कहा गया कि समय की आवश्यकता का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसका कार्य ठीक था, किन्तु (पंचमकाल में) इस वर्ग में अपने उच्च जन्म होने का अभिमान मर जायगा। तथा बहुत सारे ब्राह्मण मांसभक्षी हो जावेंगे तथा सही धर्म (जैनधर्म) के विरोधी हो जायेंगे।

हम सुनिश्चित हैं कि उपर्युक्त संकेतों या चतुर्थ वर्ण ब्राह्मण की स्थापना का जो कदम उठाया था, उससे भरत बिल्कुल भी प्रसन्न नहीं था। वह जगदगुरु के समवसरण से वापिस अपने राज्य में गया तथा प्रथम महान् चक्रवर्ती के रूप में अपने पुराने पुण्यकर्मों का फल भोगने लगा।

पंचमकाल आजकल चल रहा है। अस्तित्व की परिस्थितियाँ जो धीरे-धीरे पीड़ादायक और कष्टकर हो रही हैं उनकी अपेक्षा यह काल तेजी से ह्रास का है। यह २४५५ वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ था और अभी इसे 18545 वर्ष और चलना है[1]। इस अवधि में युद्ध, अकाल तथा महामारी होंगी, जिसका परिणाम यह होगा कि मनुष्य अधभूखा रहेगा। उसका कद छोटा होता जाएगा। पंचमकाल के अन्त में उसकी ऊँचाई एक हाथ से अधिक नहीं रहेगी तथा उम्र 20 वर्ष होगी यह

1. यह गणना लेखक ने अपनी पुस्तक लिखने के काल के अनुसार दी है।

सब धीरे-धीरे लगभग अतीन्द्रिय गोचर होगा। कुछ स्थानों पर वृद्धि के चिन्ह भी पुनः दृष्टिगोचर होंगे। निरन्तर गिरावट की प्रक्रिया में आया अवरोध केवल क्षणिक होगा। प्राय: कर हर जगह वस्तुओं की प्रकृति बुरे से और अधिक बुरेपने की ओर जाने की होगी। जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध भारतवर्ष अधार्मिक हो जायगा। इसके चारों ओर के म्लेच्छ देश धर्म को ऊपर ले जायेंगे। भविष्यवाणी का यह भाग शीघ्र ही पूर्ण हो रहा है, क्योंकि धर्म मेधावियों के यहाँ ही रह सकता है किन्तु भारतवर्ष में केवल 5% ही साक्षरता है। साक्षर मनुष्यों और नारियों के इस छोटे से अनुपात में, जो वास्तव में मेधावी हैं शायद हजार में एक होगा। इसे स्पष्टता से ग्रहण किया जा सकता है कि विश्व का मेधावी केन्द्र भारतवर्ष से विदेशी भूमि की ओर खिसक रहा है। आगे जिस बात की होने की सम्भावना है, वह है यूरोपीय तथा अमेरिकी लोगों द्वारा आत्मा के स्वरूप की खोज, जो कि इस शताब्दी में होने की सम्भावना है, इस प्रकार जैन भविष्यवाणी पूर्ण हो जायेगी।

फिर भी पूरे पंचम काल धर्म का अस्तित्व हमारी गोलाकार पृथ्वी के मानचित्र पर रहेगा। श्रद्धालुजनों का संघ इस काल के अन्त तक रहेगा। संसार में अन्त में जिनेन्द्र भगवान का एक श्रावक, एक श्राविका, एक मुनि और एक आर्यिका अनुयायी रह जायेंगे। इस काल के जब तीन क्षण शेष रह जायेंगे, तब राजा, अग्नि और धर्म का क्रमशः एक के बाद एक लोप हो जायगा। अंतिम राजा, जिसका नाम कल्कि होगा, अंतिम साधु के हाथ से भोजन का ग्रास छीनेगा। तथा देवों के द्वारा अपनी घोर अधार्मिकता के कारण नाश को प्राप्त होगा। मुनि और आर्यिका, श्रावक और श्राविका के साथ सल्लेखना धारण कर मरण करेंगे। तत्काल ही अग्नि का लोप हो जायगा। तथा अगले क्षण धर्म का अस्तित्व लोप हो जायेगा।

इसके बाद २१००० वर्ष का छठा काल प्रारम्भ होगा। यह सब कालो में बुरा होगा। मनुष्यों का ह्रास होगा तथा दु:ख और कष्ट असहनीय होंगे। खाना बनाना अज्ञात हो जायगा, क्योंकि अग्नि ही नहीं होगी। मनुष्य कच्चा माँस ग्रहण करेंगे, जिसे वे जीवित पशुओं यहाँ तक कि मनुष्यों से काटेंगे। कानून और व्यवस्था का स्थान नियमरहितता और अव्यवस्था ले लेगी। छठे काल के अन्त में विश्व पर एक बहुत बड़ा प्राकृतिक उपद्रव आएगा। ४९ दिन तक इस पर अग्नि, राख और जलते हुए अंगारों की वर्षा होगी। गर्म हवायें पृथ्वी की सतह को झुलसा देंगी। तथा बहुत गहराई से फट जायगी। जो प्राणी पहाड़ के दरों और गुफाओं में अपने आपको छिपा लेगें या जिन्हें देव संरक्षण देंगे, उन्हें छोड़कर सारी सजीव प्रकृति विनिष्ट हो जायगी। इस प्रकार छठा काल समाप्त हो जायगा। यह प्राकृतिक विपत्ति पूरे ब्रह्माण्ड में घटित नहीं होगी।

अगले कालर्द्धचक्र उत्सर्पिणी में जो अवसर्पिणी से विपरीत है, वस्तुओं की नई व्यवस्था हो जाने पर घटनाक्रम बदल जाएगा। यह समय समृद्धि, अभिवृद्धि और उदय का होगा। ४९ दिनों के विनाश के स्थान पर उतने ही समय एक भिन्न प्रकार का तथा विरोधी दृश्य घटित होगा। पृथ्वी पर ठण्डी हवायें चलेंगी।

पृथ्वी पर ठण्डी हवायें चलेंगी। पृथ्वी की तह पर दही, दूध आदि ठण्डी वस्तुओं की वर्षा होगी। इस के धरातल में विनाश के चिन्ह लुप्त हो जायेंगे। जो जीवित बचेंगे। वे अपने छिपे हुए स्थानों से निकलेंगे तथा एक बार पृथ्वी फिर बसेगी। इस के घटित होने के 42000 वर्ष बाद उत्सर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर अवतरित होंगे। वे जगत् में धर्म की पुनः स्थापना करेंगे।

उपर्युक्त भविष्यवाणी की बौद्धिक व्याख्या की जा सकती है। कल्पना करें दो विरोधी घूमते हुए धूमकेतु के प्रकार के ग्रह धीरे-धीरे हमारे विश्व की ओर आ रहे हैं और वर्तमान काल के चक्र के छठवें काल के अन्त में इसके अत्यधिक समीप आयेंगे। अब हम पुनः कल्पना करें कि इन दोनों में पहला ग्रह जो कि पृथ्वी के समीप है, उसकी प्रकृति अग्निमय है, जैसे कि सूर्य। इसका अत्यधिक समीप में पहुँचने के चिन्ह भविष्य वाणी के निर्देशों की विशेषता से युक्त होगें। जैसे- वनस्पति की कमी ईंधन की कमी के कारण अग्नि का अप्रकट होना, गर्महवाओं का चलना, अधजली लकड़ी के कोयले की वर्षा होना, जलती हुई धूल आदि . ध्वंसक पृथ्वी के करीब ४९ दिन तक रहेगा, जो कि सभी जीवित प्राणियों के लिए कष्टप्रद होगा। अनन्तर यह प्रस्थान करेगा, और पुनः पीछे हटेगा। दूसरा धूमकेतु, जिसकी प्रकृति चन्द्रमा से मिलती जुलती होगी।, पृथ्वी के समीप आएगा। तब भिन्न प्रकार की घटना होगी। ठण्डी हवाओं का चलना, ठण्डी वस्तुओं की वर्षा होना- जैसे- दही, दूध, अमृत, या इसी प्रकार की अन्य वस्तुयें पृथ्वी की सतह पर पुनः मानवता प्रकट होगी और पुनः इस पर रहेंगे। सभ्यता की स्थिति तक पहुँचने में ४२000 वर्ष लगेंगे। अनन्तर एक जगद्गुरु का आगमन होगा, जो कि उन्हें धार्मिक सत्य का ज्ञान कराएगा।

जहाँ तक अन्तिम राजा द्वारा भोजन के कौर को सन्त से छीनने का सम्बन्ध है, इसकी व्याख्या इस तथ्य में ढूँढी जा सकती है कि पंचमकाल के अन्त में पकाया हुआ भोजन विरल हो जायगा। शायद बढ़ते हुए अग्निमय धूमकेतु के प्रभाव के फलस्वरूप पृथ्वी की शक्ति कम हो जायगी। वनस्पतियाँ सूखने लगेंगी, ईंधन विरल होगा तथा पकाया हुआ भोजन अपूर्व भोज्य पदार्थ सैकड़ों वर्षों से विरल हो चुका होगा। युग की समाप्ति पर अकेले बचे हुए श्रावक के पास लड़की के टुकड़ों का अन्तिम गट्टर मुनि तथा आर्यिका के भोजन के लिए बचा होगा। इस समय के बहुत पहले कानून और व्यवस्था लुप्त हो चुकी होगी। तथा अन्तिम राजा संभवतः धौंस जमाने वाले व्यक्ति से अधिक नहीं होगा। वह श्रावक की रसोई से उठते हुए धुयें की तरफ आकर्षित होगा तथा पकाए हुए भोजन की ओर स्वयं दौड़ जायगा, जो कि उस समय की सबसे स्वादिष्ट चीज होगी। वह मुनि के प्रथम ग्रास लेने के ठीक समय पर पहुँच चुकेगा, ताकि वह ग्रास छीन सके। देव, जो प्रायः मानवीय कृत्यों में हस्तक्षेप नहीं करते हैं, साधुपने का इस प्रकार अपमान बर्दास्त नहीं कर पायेंगे। वे राजा से बदला लेंगे। अगले ही क्षण लकड़ियों का गट्ठा अपने आप जल जायगा तथा अग्नि भूतकाल की चीज हो जायगी। धर्म जिसका निवास मनुष्यों की हृदय के अतिरिक्त कही नहीं है, नष्ट हो जायगा। क्योंकि धर्म की जो अभिवृद्धि करते हैं तथा इसे व्यवहार में लाते हैं वे जा चुके होंगे। किस प्रकार वर्तमानकाल के अंतिम तीन क्षमों में एक पर एक राजा अग्नि और धर्म का लोप हो जायगा, इसका यह अनुमान है।

❑❑❑

धार्मिकों का संघ

अष्टषष्टितीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत् ।
श्री आदिनाथदेवस्य, स्मरणेनापि तत्फलम् ॥

अडसठ तीर्थों की यात्रा का जो फल होता है वह फल आदिनाथदेव के स्मरण मात्र से होता है (अज्ञान हिन्दू अराधना)

जैनधर्म अपने अनुयायियों में उच्च और निम्न भेद करता है । संघ चार भागों में विभाजित है । पुरुषों में मुनि तथा श्रावक तथा महिलाओं में आर्यिका और श्राविका । यह विभाजन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सभी नर नारी, बिना किसी लम्बे, पूर्व प्रतिशक्ष के, आत्म त्याग के उस उच्चादर्श को प्राप्त नहीं कर सकते जिसमें सभी कुछ त्याग देना तथा निर्धनों को दान कर देना अपेक्षित है।

जगद्गुरु के चौरासी गणधर थे । इनमें वृषभसेन, कच्छ, महाकच्छ नभि (जिनसे हम इस कहानी में मिल चुके हैं) तथा जयवर्मा भी तीर्थंकर का एक गणधर था ।

20,000 सर्वज्ञ मुनि थे जिन्होंने पावन तीर्थंकर का अनुसरण किया था । 127000 मुनि मनः पर्ययज्ञानी तथा 9000 अवधिज्ञानी थे तथा 4750 ऐसे थे, जिन्हें द्वादशाङ्ग, का पूर्णज्ञान था .20600 मुनि ऐसे थे, जिन्हें आश्चर्यजनक ऋद्धियाँ प्राप्त थीं । बहुत सारे मुनि भगवान के अनुयायी थे, इनमें से बहुतों ने निर्वाण प्राप्त किया । शेष स्वर्ग गए । जगद्गुरु के सर्वार्थसिद्धि के सभी मित्र और साथी निर्वाण को प्राप्त हुए ।

ब्राह्मी को आगे कर ५०३००० आर्यिकाओं ने जगद्गुरु का अनुसरण किया । 3 लास श्रावक ऐसे थे जो व्रतों तथा अन्य प्रकार संयम का पालन करते हुए भगवान की पूजा करते थे । श्राविकों की संख्या ५ लाख थी ।

कुछ पशु, जिन्हें पूर्वजन्म की स्मृति हो आई थी, भगवान के अनुयायी बने, इनमें से कुछ ने श्रावक के व्रत ग्रहण किए ।

जयवर्मा, जिसकी जगद्गुरु के गणधरों में गणना की गई है, वही था, जिसने वाराणसी में स्वयंवर में सुलोचना से विवाह किया था तथा जिसने चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति को युद्धक्षेत्र में बन्दी बना लिया था । बहुत वर्ष पश्चात् एक दिन वह धर्म के स्रोत की वन्दना करने के लिए आया, जब कि वह संसार त्याग और वैराग्य की भावना से भरा हुआ था । संसार को क्षणिक तथा जीवन की मृत्यु को खिलौना मानते हुए उसी समय वहीं हमेशा के बन्धन से मुक्त होने के लिए वह वापिस अपने राज्य में गया और अपने स्थान पर अपने पुत्र को सिंहासन पर बैठाया और सुलोचना अन्य रानियों तथा रिश्तेदारों से विदा ली तथा गृहत्यागी मुनि हो गया ।

सुलोचना इस घटना से अत्यधिक प्रभावित हुई। उसका हृदय बड़ा दु:खी था। उसने भरत की प्रसिद्ध रानी सुभद्रा (जो शारीरिक शक्तिवान होने के साथ-साथ बुद्धिमती भी थी।) से परामर्श किया तथा आँसू भरे विश्व की पीड़ाओं से मुक्ति हेतु ब्राह्मी के पूजित चरणों की शरण ली तथा आर्यिका हो गई। अपने पार्थिक जीवन के अन्त में वह सौलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुई। अब उसका एक मनुष्य भव और अवशिष्ट रहा था जब कि नर रूप से वह निर्वाण प्राप्त करेगी।

जयवर्मा के साथ विजय, जयन्त, संजयन्त इत्यादि नाम वाले उसके बहुत से छोटे भाई और बहुत से राजकुमारों ने धर्म का अनुसरण करने के लिए सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया तथा अन्धी और क्रूर प्रकृति से अपने भाग्य का निर्माण अपने हाथ में ले लिया।

वाराणसी के राजा अकम्पन जो कि सुलोचना के पिता थे तथा जिन्होंने इस कालाद्व चक्र में स्वयंवर समारोह की स्थापना की थी, को संसारिक जीवन से अत्यधिक घृणा हुई तथा सतत मृत्यु से छुटकारा पाने हेतु उन्होंने जगद्गुरु के पूज्य चरणों की शरण ली। उसने अपने पुत्र हेमाङ्गद को राजसिंहासन पर बैठाया और भगवान के समवसरण की ओर बढ़ चले जहाँ वे नग्न साधु हो गए। उसी समय उनकी रानी सुप्रभा भी आर्यिका हो गई।

निर्वाण

> इत्थं प्रभाव ऋषभो ऽवतार शंकरस्य मे ।
> सतांगतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तवन ।।
> ऋषभस्य चरितं हि परमं पावनं महत् ।
> स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ।।

इस प्रकार मुझ शंकर का ऋषभावतार होगा । यह नवम अवतार होगा । यह सज्जनों का पाने योग्य मार्ग तथा दीनों का बन्धु होगा । ऋषभ का चरित बहुत अधिक पावन है । ऋषभ के जीवन को प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिए , जो कि स्वर्ग को देने वाला, यश को देने वाला तथा आयुवर्द्धक है (शिव पुराण(हिन्दू)९, ४७-४८

"Because of her (wisdom) I shall have immortality and leave behind and eternal memory to them that came after me' ii Esdras

(Jeurish Apocryph 2)Chap viii

मैं ज्ञान के द्वारा अमरत्त्व प्राप्त करूंगा अपने बाद जाने वालों के लिये शाश्वत स्मृति दौड़ जाऊंगा । उपयुक्त गंद्यांश जो कि यहूदी धर्मग्रन्थ से उद्घृत किया गया है, इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर देता है जो कि अभी उठा है कि क्या मनुष्य के लिए दूसरे लोगों को कष्ट और दु:ख में छोड़कर स्वयं मुक्ति की खोज स्वार्थपूर्ण है ?

कोई भी व्यक्ति जिसने कषायों को पूरी तरह दूर नहीं कर दिया है, यहाँ तक की सहानुभूति तथा प्रेम को भी अपनी प्रकृति से दूर नहीं किया है, निर्वाण में प्रविष्ट होने के या सर्वज्ञता प्राप्ति के योग्य नहीं है सर्वज्ञता निर्वाण की पूर्ववर्ती है । पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के बाद निर्वाण एक आवश्यक परिणाम के रूप में अनुवर्ती होता है । क्योंकि वे कर्म व्यापक रूप में नष्ट हो जाते हैं जो कि शरीर की शक्तियों के घटक होते हैं।

यह भी भ्रम है कि आप सबको बचा सकते हैं। वास्तव में आप प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान भी नहीं ला सकते हैं । यह आन्तरिक मनोविज्ञान का प्रश्न है कि क्या कोई व्यक्ति सत्य की शिक्षाओं को स्वीकार करने के लिए तैयार है अथवा इसका तिरस्कार करने के लिए तैयार है । जीव, जो कि अब भी दु:ख और कष्ट में है, भूतकाल में महान् गुरुओं से सम्भवत: मिले है । किन्तु उनकी संगति से कुछ भी लाभ-लाभ नहीं निकाला । बहुत सारे जीव हैं, वे कभी नहीं सुरक्षित रहेंगे । जैसी कि आजकल के प्रचलित बुद्धिवादी धर्म की शिक्षा है । तब उनका क्या होगा, जो दूसरों के प्रेम से निर्वाण में प्रविष्ट नहीं होगे या इस डर से कि वे कहीं स्वार्थी न कहलायें । उनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती ही जायगी । किन्तु जिसके लिए या जिसकी उन्होंने उपलब्धि की है अथवा जिसके वे योग्य है उसका उपभोग करने एवं विश्राम करने का उन्हें सुअवसर प्राप्त नहीं होगा। यद्यपि वे

उसका आनन्द ले सकते हैं, किन्तु दूसरों की त्रुटियों के कारण ऐसा नहीं कर सकेंगे। और यदि हम उनके भौतिक अस्तित्व को नित्य नहीं मानते -जैसा कोई भी धर्म नहीं कहता- वे जन्म मरण के जिस चक्र से मुक्ति चाहते हैं उसी में उलझे रहेंगे।

वह आत्मा जिसने निर्वाण प्राप्त किया है, किसी भी रूप में उस पर आरोप नहीं लगाया जा सकता। स्वयं भवसागर से पार लगने से पूर्व मोक्ष पाने वाले सच्चे धर्म की शिक्षा अपने शिष्यों और अनुगामियों को दे देते हैं। वे सभी जो इसको सुनना चाहते हैं समय आने पर दूसरों को वही शिक्षा दे देते हैं। इस प्रकार ज्योति प्रज्वलित रहती है, जहाँ तक सम्भव हो, युग-युग तक ।

उनके शब्दों की अपेक्षा उनका उदाहरण अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि कल्पना स्वेच्छा से होती है, किसी अन्य द्वारा नहीं। निर्वाण प्राप्ति से पूर्व वह व्यक्ति जो रास्ता खोजना चाहते हैं, उनके लिए तीन प्रधान वस्तुयें छोड़ जाता है। ये हैं- उसका महान उदाहरण, उसके पूजित चरणचिन्ह तथा उसके उपदेश। ज्ञानप्राप्ति से पूर्व ये उन सभी के लिए आवश्यक होते हैं जो अपने को जानने की इच्छा रखते हैं तथा मृत्यु रूपी राक्षस से अपने को बचाना चाहते हैं।

यदि विरोधी सिद्धान्त सही होता तथा मनुष्य निर्वाण में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि ऐसा करने पर स्वार्थी होता तो इस प्रकार कोई भी व्यक्ति निर्वाण प्राप्त न करता और आज भी निर्वाण को आत्माओं से पूर्णत: रिक्त समझा जाता ।

जहाँ तक सिद्धान्त की व्यावहारिकता का सम्बन्ध है, इसे किसी एक उदाहरण द्वारा भी प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस प्रकार तो कोई व्यक्ति अभी तक निर्वाण को प्राप्त हुआ नहीं समझा जा सकता। किन्तु किसी भी मायने में यह स्वीकार करना हास्यास्पद भी है।

जब जगद्गुरु के जीवन के पन्द्रह दिन अवशिष्ट रहे, तब समसवसरण विघटित हो गया तथा भगवान् अवशिष्ट अघातिया कर्म शक्तियों को नष्ट करने में लग गए, जो अब भी उनकी आत्मा के साथ लगे हुए थे। यह पौष का अन्तिम दिन (पूर्णमासी) था, जब कि वे दो शिखरों कैलाश पर्वत के श्री शिखर और सिद्ध शिखर के बीच में विराजमान हुए तथा उन्होंने उच्च शुक्लध्यान में अपने को लगाया। वे पूर्वाभिमुख होकर पद्मासन मुद्रा में बैठे थे।

पूर्णमासी की पूर्व रात्रि में भरत तथा अन्य लोगों ने भावी घटनाओं के सूचक रात्रि के अंतिम प्रहर अनेक स्वप्न देखे। भरत ने देखा कि विशाल मेरु पर्वत अपनी लम्बाई से सिद्धक्षेत्र तक पहुँच गया है। उनके पुत्र अर्ककीर्ति ने देखा कि एक महौषधि का वृक्ष मनुष्यों के रोग नष्ट कर स्वर्ग की ओर जा रहा है। चक्रवर्ती के ग्रहपति ने देखा कि एक कल्पवृक्ष निरन्तर लोगों को उनकी इच्छानुसार अभीष्ट फल देकर आकाश में उठ रहा है। जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य ने देखा कि चन्द्रमा तीनों लोकों को प्रकाशित कर ताराओं सहित जा रहा है। जगद्गुरु की पुत्रवधू सभद्रा ने देखा कि इन्द्रानी भगवान् की दो पत्नियों यशस्वती और सुभद्रा को सान्त्वना दे रही है। भरत के प्रधानमन्त्री ने देखा स्वयंवर का आयोजन करने के लिए जिनकी प्रसिद्धि है) कि एक रत्नद्वीप आकाश में जाने के लिए उद्यत है। राजा अकम्पन के एक पुत्र चित्रांगद ने देखा कि सूर्य आकाश में अपनी महान् प्रभा के साथ गायब हो रहा है।

इन स्वप्नों ने अयोध्या और वाराणसी में सनसनी पैदा कर दी भरत अपने आदमियों के साथ इन स्वप्नों के विषय में विचार कर रहे थे कि तभी आनन्द समवसरण के विघटित होने तथा भगवान

के अघातिया कर्मों को नष्ट करने में लगने का समाचार आया। चक्रवर्ती शीघ्र ही अपने अधीन विद्याधरों के साथ विमान से कैलाश पर आया और वहाँ पन्द्रह दिन की महामह पूजा की।

अन्त में माघकृष्ण चतुदर्शी को, प्रातः काल के समय, जब कि चन्द्रमा अभिजित्, नक्षत्र से होकर गुजर रहा था, जब भगवान 'सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति' नामक तृतीय शुक्लध्यान का आश्रय लिया तथा मन, वचन, काय की पौद्गलिक संयोग की परम्परा को नष्ट कर दिया, तत्काल चौदहवां अन्तिम गुणस्थान प्राप्त किया, जहाँ व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक ध्यान को अङ्गीकार कर अ,इ,उ, ऋ,लृ, अक्षरों की उच्चारण की समयावधि में उन्होंने निर्वाण प्राप्त कर लिया। अगले ही पल ने ब्रह्माण्ड के शीर्ष पर भगवानों के निवास निर्वाण की पवित्र भूमि पर एक और पूर्णात्मा को अवतरित होते देखा।

पूर्णात्मायें, जो निर्वाण को प्राप्त होती हैं, जन्म, मृत्यु, जरा, रोग, दुःख, कष्ट, भूख, प्यास तथा चिन्ताओं से विमुक्त होती हैं। उनका शरीर नहीं होता है, तथा कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। वे निर्बाध रूप से तथा सदैव के लिए उन सभी अतुलनीय गुणों और अपनी आत्मिक सुविधाओं का उपभोग करते हैं। चाँदी और सोने जैसे सामान्य द्रव्यों के गुणों का वर्णन असम्भव है (इसी प्रकार) आत्म द्रव्य के गुणों का गिनना और वर्णन करना असम्भव है। सिद्ध सर्वज्ञता, नित्यता तथा अवर्णनीय और अपराजेय आनन्द का अनुभव करते हैं। वे सब कुछ देखते और सुनते है, जैसे कि सभी जगह उपस्थित रहे हो। उनमें राग और द्वेष नहीं। वे मित्रों को वर प्रदान नहीं करते और न शत्रुओं के प्रति प्रतिकूलता दिखलाते हैं। उनका दैवीय उदाहरण उनकी शिक्षायें तथा पदचिन्ह उनके लिए छूटे हैं। जो संसार से घृणा करते हैं और मृत्यु रूपी गुहा से निकलना चाहते हैं। जो उनके पदचिन्हों पर चलता है, वह सभी मायनों में उन्हीं जैसा हो जाता है। उसका सहज आत्मिक गुणों से सम्बन्ध हो जाता है और शीघ्र ही प्रतिष्ठित होने के लिए पहुंच जाता है।

वर्तमान कालार्द्धचक्र के प्रथम जगद्गुरु अब सिद्ध शिला पर रह रहे हैं, जो कि लोक के अग्रभाग पर स्थित है, जहाँ अमरता, सतत युवापन, सर्वज्ञता तथा सर्वोत्कृष्ट आनन्द है। वे पुनः वापिस नहीं आएंगे अथवा पुनः संसार में नहीं पडेंगे।

धार्मिक तत्त्वमीमांसा में कुछ नवप्रविष्ट सोचते हैं, कि निर्वाण की स्थिति अस्थायी है तथा आत्मा शीघ्र या बाद में संसार में-संसार में आ पड़ेगी, किन्तु सत्य दूसरा है। पुनः संसार में आ पड़ने का कोई कारण ही नहीं है, क्योंकि आत्मा की इच्छा के विरूद्ध पुद्गल प्रभाव नहीं डाल सकता। देखो 'The key of knowledge' फिर सर्वज्ञता पाने के बाद कामना से प्रभावित होना बिल्कुल ही असम्भव है।

यथार्थ में एक शुद्ध जीव के लिए यह असंभव है कि किसी प्रकार की इच्छा से विचलित हो। इस बिन्दु की व्याख्या के लिए Clement of Alexandrid को उद्घृत किया जा सकता है।

क्योंकि यह असम्भव है कि जिसने एक बार प्रेम द्वारा पूर्णता प्राप्त कर ली तथा जो नित्य, ही चिन्तन, मनन के अपरिसीमित आनन्द में निमग्न है, वह निकृष्ट वस्तुओं में सुख पायेगा, क्योंकि जिसने अप्राप्य प्रकाश को पा लिया, उसके पुनः सांसारिक वस्तुओं की ओर लौटने का कोई विवेक सम्मत कारण नहीं है।

Ante Nicene Christian library Vol. XII
PP 346-347

यदि इस विषय के भौतिक संदर्भ को ही लें, शुद्ध आत्मा से जीव के अलग हो जाने पर जीव का पुन: बन्धन में या संसार में पड़ना रुक जाता है । बाइबिल में यही बात है -

"And there shall in no wise enter into it any thing that defileth neither what so ever worketh aboimnation or maketh a lie Revelation XXI 27)

(और इसमें किसी भी प्रकार ऐसा कुछ नहीं मिल पायेगा जो दूषित करने वाला हो, न ही वह जो इसको घृणायोग्य या झूठा बनाये ।)

यह यथार्थ में जैन दृष्टि है और इस तथ्य की वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि पूर्णात्मायें अनन्तकाल तक पतित नहीं होती । उनकी प्रभुता स्थायी होती है और उनका राज्य नष्ट नहीं होता (Danie viilly) यह पूर्णपुरुषों के सन्दर्भ में कहा गया है । इस बिन्दु पर परिश्रम करना लाभप्रद नहीं है । केवल इतना ही कहना है कि जैसे विषय के प्रति सही रूप में वैज्ञानिक खोज होगी, गलत धारणायें दूर हो जाँयगी, किन्तु उन उत्तम पुरुषों के विषय में हम क्या कह सकते हैं जो स्वयं देवत्व की प्राप्ति में त्रुटि पाते हैं, इस आधार पर कि फिर तो कुछ करना शेष नहीं रहता है । अब हमें उनसे कहना है कि वे देवों से क्या कराना पसन्द करेंगे ? क्या वे उन्हें स्वर्ग या पृथ्वी के मेलों में खिड़की के पीछे खड़ा करना चाहते हैं कि वे सुन्दर तितलियों के लिए आकर्षक फीते बेच सकें ?

क्या आप उन्हें एक दूसरे की सेवा में लगाना चाहते हैं या सम्भवत: उन्हें सेल्फ्रिज जैसे विशाल भंडार के कर्मचारियों में शामिल करेंगे ।

शायद आप बीमा व्यवसाय के विषय में सोच रहे होंगे, जहाँ भगवान् मनुष्य से अधिक लाभप्रद हों ? किन्तु किसी भी बीमा कम्पनी की अभिवृद्धि नहीं होगी यदि सर्वज्ञ ग्राहकों से कहने लगेंगे कि उन्हें तात्कालिक मृत्यु का कोई खतरा नहीं है । सम्भवत: कानून की सबसे प्रतिष्ठित पंक्ति है तो क्या हम किंग्स बेंचडिविजन में किसी दैव को न्यायाधीश की पोशाक में न्याय करते हुए कल्पना करें ।

क्या यह समस्त वकील-वर्ग की मौत न होगी । वे अपने समस्त तर्कों, उदाहरणों, वाक् चातुर्य द्वारा उस न्यायाधीश पर आपत्तियाँ । इसके बाद केवल राजा, मन्त्री व सेनापतियों पर विचार रह जाता है । अपने सांसारिक रक्षक के रूप में ईश्वर को पाना नि:सन्देह सन्तोषप्रद होगा, किन्तु एक लौकिक राजा के रूप में उसको एकदेश या जाति का पक्ष लेना होगा, वह सर्वव्यापक नहीं रह सकेगा । राजनीतिज्ञ व मन्त्री जो अपनी चतुरता से मोटा वेतन पाते हैं, भूखे नहीं मरेंगे और सबसे बुरी बात यह होगी कि एक राजा के रूप में वह दैव आपके लिए लड़ाई न लड़कर दूसरा गाल भी आगे करने को कहेगा और जब आपका पड़ौसी आपके एक वस्त्र की (सही या गलत) माँग करेगा, वह आपको दोनों वस्त्र दान करने की सलाह देगा । वह कुछ जातियों को दबाकर रखने तथा नीग्रो की हत्या की अनुमति नहीं देगा ।

अब हमें तथ्यों को पुन: देखना है । हम कब यथार्थ में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, जब हम अपने कर्त्तव्यों में प्रवेश करते हैं या दिन में जब कार्यालय छोड़ते हैं । नि: सन्देह यह बहुत

वाञ्छनीय और आवश्यक है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। इसके बहुत से कारण हैं। पहली बात तो यह है कि कोई भी व्यक्ति तब तक मुक्ति प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता, जब तक एक ईमानदार व्यक्ति के रूप में वह अपनी जिम्मेदारियों को पूरा नहीं कर लेता । दूसरी बात यह है कि हमारी शारीरिक संरचना इस प्रकार की है कि (ज्ञानेन्द्रियों और जाति द्वारा संघटित शरीर के कारण) हम कर्म किये बिना नहीं रह सकते, यह कर्म यदि सम्मानीय व शुभ नहीं होगा तो निश्चित रूप से इसके विपरीत होगा, जिसका करना वांछनीय न होगा ।

तीसरी बात यह है कि हम अपने स्वास्थ्य को कर्म के द्वारा ठीक रखते हैं तथा सुस्तता के द्वारा अपने कुशल क्षेम तथा संतुलन को बिगाड़ते हैं । अंतिम बात यह है कि एक आलसी 'आवरा' का सभी ओर से तिरस्कार होता है, क्योंकि वह कुछ भी नहीं कमाता है तथा उसके साथ सम्बद्ध होने के प्रयत्न में रहता है, जो कार्य करता है । किन्तु ईश्वर जिसमें हम त्रुटि पात्र चाहते हैं को ऐसा सोचने के लिए ऐन्द्रियिक अवयव नहीं है तथा रहने के लिए उसे जीविकोपार्जन की भी आवश्यकता नहीं है । यदि उनके लिए ऐसा करना आवश्यक होता तो वे दैव न होते ।

एक दूसरा बिन्दु भी है, जिसके सम्बन्ध में भगवान का जीवन आपत्ति जनक हो सकता है क्योंकि इससे गप्पे लगाने का तथा चायपार्टी का अवसर प्राप्त नहीं होता है। किन्तु क्या कोई इसका यथार्थ में उत्तर देना चाहता है ? इस प्रकार के आराम की किसे आवश्यकता है ? वह जो सदैव प्रसन्न है या वह जिसे बोरियत महसूस होती है तथा जो चिन्तित है तथा जो आत्मा के स्वर संगीत से बाहर है । तथ्य यह है कि इसको परिवर्तन के रूप में देखना अपने आप में हमारे सांसारिक जीवन के आदर्शों की भर्त्सना करना है । क्या हम फिर भी परिवर्तन चाहेंगे, यदि वह काम से छुट्टी देने वाला व सुख देने वाला न हो ?

अब केवल विज्ञान व कला को देखना शेष है । यदि ईश्वर इन क्षेत्रों में मनुष्य का दिशा निर्देश कर सकें तो हमारी परेशानी बहुत कम हो जाये । किन्तु क्या इतना कार्य ही ईश्वर को शाश्वत अकर्मण्यता के आरोप से मुक्त करने हेतु पर्याप्त होगा ? यन्त्रादि तुरन्त दिये जा सकते हैं । ईश्वर को प्रयोग शालाओं की आवश्यकता नहीं होगी, न ही उसे प्राकृतिक तरीकों से ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयोग करने होंगे । फिर वह अपने शेष समय, अनन्तकाल तक क्या करेगा ? फिर हम कैसे कह सकते हैं कि ईश्वर ने संसार त्यागने से पूर्व मनुष्यों को उपयोगी ज्ञान प्रदान नहीं किया है ? हम देख चुके हैं कि भरत ने स्वयं चिकित्सा सम्बंधी ज्ञान आर्य जाति को दिया था यदि मनुष्य उन बातों को याद नहीं रख सकते जो उन्हें सिखायी गई हैं तो इसके लिये क्या ईश्वर को दोषी ठहराया जा सकता है ?

देवत्व का सार स्वतन्त्रता की अनुभूति में निहित है । भगवान् यथार्थ में स्वतन्त्र हैं । उन्हें करने को कुछ बाकी नहीं बचा । उनकी अगणनीय शान्ति के भङ्ग करने के लिए चिन्तायें, तथा उत्सुकतायें नहीं है । व्यक्तिगत प्रेम और घृणा का उनके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है । वे सब समयों में इस प्रकार की प्रसन्नता से भरे हुए हैं कि उसका शब्दों के द्वारा कथन नहीं किया जा सकता। ऐसा भी नहीं है कि उन्होंने अन्धकार में छलांग लगाई हो । या अंधा सौदा किया हो । उन्होंने अपने आदर्श तथा प्रतिष्ठा के लिए एक जीवन के बाद दूसरे में जान बूझकर स्थिरता से ईमानदारी के लिए कार्य किया है। वे किसी भी समय वापिस आ सकते थे यदि

वे उस प्रसन्नता को जो उस रूप में स्थापित है, न जानते होते। यथार्थ में सन्यासी जब गुणस्थान चढ़ता है तो इस प्रकार का आनन्द अनुभव करता है कि वह प्रसन्नतापूर्वक आनन्द की उपलब्धि के लिए किसी भी प्रकार की मुसीबत सहन करते हैं। हमें यह नहीं भूलना है कि शुद्ध आत्मा पुद्गल और मांस से भिन्न प्रकार का द्रव्य है। इसे ठीक रखने लिए के स्वस्थ व्यायाम की आवश्यकता नहीं है। इसे भोजन की आवश्यकता नहीं है। यह कभी भी कष्ट और नीरसता का अनुभव नहीं करती है। हम अपने आलोचकों से केवल एक प्रश्न करेंगे- क्या आप अपनी किसी दुकान, पिकनिक या चायपार्टी में अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं ? क्या इससे पूर्व कभी भी आपकी कल्पना की ऊंची से ऊंची उड़ान ने सर्वज्ञता की सम्भावना के बार में सोचा था? क्या कभी भी यह विचार आपके मन में आया कि आपकी निकृष्ट ऐन्द्रियिक संतुष्टि से बहुत ऊपर एक अन्य आनन्द भी सम्भव है जो चिरन्तर तृप्ति देने वाला है ? यदि आपका आप "न" है तो बेहतर यही है कि इन विषयों को उनके लिए ही छोड़ दें जिन्होंने न केवल इन सम्भावनाओं की कल्पना की, बल्कि उन्हें वास्तव में प्राप्त भी किया। यदि ठीक समझें तो आप इन से पूर्णतः इंकार करने का सरल रास्ता अपना सकते हैं।

❑❑❑

वृषभसेन गणधर

अजर अमर अशरण शरण अविनाशी अविकार।
आदिपुरुष आदीश जिन बन्दौं बारंबार

मैं पुन: पुन: आदिपुरुष, आदीश जिन (ऋषभदेव) की वन्दना करता हूँ जो अजर, अमर, अशरण शरण, अविनाशी और विकार रहित हैं। (जैन स्तुति)

जगद्गुरु का निर्वाण पंचम कल्याणक (शुभघटना) कहा जाता है और इसे मनाने के लिए देव तथा मनुष्य एकत्रित होते हैं। जब ऋषभदेव ने निर्वाण प्राप्त किया तब देव कैलाश पर्वत पर आए तथा गौरवशाली घटना का उत्सव अपने सामान्य रूप में मनाया। पूर्ण पुरुषों की देह कपूर के समान उड़ जाती है, केवल कुछ बाल और नाखून छूट जाते हैं। इन्द्र ने ऋषभदेव के बाल और नाखून एकत्रित किए तथा अपनी विक्रिया शक्ति से एक देह का निर्माण किया, जो कि भगवान से मिलती जुलती थी। इस शरीर की उन्होंने दाहक्रिया की तथा इसकी राख को अपने शरीर पर लगाया। उन्होंने पृथक् अग्नि से उन गणधरों तथा साधुओं की भी पृथक् अग्नि से दाह क्रिया की, जो भगवान के साथ निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। इसकी स्मृति में इन्द्र ने सातवीं और उससे ऊंची प्रतिमाओं के व्यक्तियों की तीन प्रकार की अग्नि गार्हपत्य, परमाह्वान्यक तथा दक्षिणाग्नि की स्थापना कर प्रशंसा की। इस अवसर पर अत्यधिक उल्लास मनाया गया, नृत्य किए गए, जैसी कि देवों की रीति है।

भरत को फिर भी सान्त्वना नहीं थी। वे शोक में डुबकी लगा रहे थे। उन्होंने उल्लासोत्सव में, जिसमें मनुष्यों ने देवों का साथ दिया था, में भाग नहीं लिया।

गणधर वृषभसेन ने उन्हें देखा और उनसे बोले "निश्चित रूप से यह शोक का अवसर नहीं है "क्योंकि ईश्वरीय भगवान् अमरों के निवास में गए हैं जिसमें बहुत शीघ्र तुम और मैं भी जाने वाले हैं। तभी भरत को अपनी स्मृति आई तथा उन्होंने गणधर के पवित्र चरणों का स्पर्श कर अपने राज्य की ओर बढ़े। वे अनेक वर्ष संसार में रहे, किन्तु इसके खेल खिलोनों के प्रति घृणा से भरे रहे। अन्त में एक दिन उन्हें अपने सिर पर एक सफेद बाल दिखाई दिया। इसे बुढ़ापे का संवाददता और अग्रदूत मानकर शीघ्र ही उन्होंने संसार त्याग का निश्चय किया। उन्होंने अर्ककीर्ति को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और साधु हो गए। उनका बढ़ता हुआ वैराग्य शीघ्र ही उनके मन: पर्यय ज्ञान के रूप में प्रतिबिम्बित हुआ तथा अन्तर्मूहुर्त (48 मिनट से कम समय) में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। संसार के प्रति अत्यधिक घृणा धारण करने के पुरस्कार स्वरूप उन्हें कैवल्य की लब्धि हुई। तब उन्होंने परमसत्य की शिक्षा देते हुए तथा प्रचार करते हुए परिभ्रमण किया तथा अन्त में आत्मिक प्रकृति की शुद्धता (निर्वाण) प्राप्त किया।

बाहुबली पहले से ही कैलाशपर्वत से निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। तथा वृषभसेन आदि गणधर एवं अनेक सन्तोंने भिन्न-भिन्न स्थानों से अलग-अलग समय पर निर्वाण प्राप्त किया। वे साधु, जिन्होंने निर्वाण तत्काल प्राप्त नहीं किया, पुन: स्वर्गों में उत्पन्न हुए तथा उन पवित्र श्रावकों के घर गए, जिन्होंने ऋषभदेव का अनुसरण किया। संघ की महिलायें भी अपने-अपन पुण्य के अनुसार स्वर्गों में पुन: उत्पन्न हुई तथा उन्होंने अपने स्त्रीलिङ्ग का उच्छेद कर दिया। उनमें से बहुत सी बीते हुए युगों में निर्वाण प्राप्त कर भी चुकी हैं। शेष भी निश्चित रूप से वहाँ तक पहुँचेंगी। क्योंकि इस सही धर्म की यह विशेषता है कि जो इसके सहारे आगे गया, चाहे वह पल कितना ही क्षणभंगुर हो, वह सही मार्ग के प्रति आकर्षित होकर पूर्णत्व और आनन्द को प्राप्त हो गया।

॥ समाप्त ॥

लेखक की अन्य रचनायें

1.	पावन तीर्थ हस्तिनापुर	10.00
2.	अहिच्छत्रा की पुरासम्पदा।	50.00
3.	पद्मचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति	50.00
4.	समराइच्चकहा (अनुवाद)	
5.	समाधितन्त्र (सम्पादन)	
6.	इष्टोपदेश (सम्पादन)	
7.	भक्तामर स्तोत्र (अनुवाद)	
8.	आराधना कथा प्रबन्ध (अनुवाद)	30.00
9.	जैन पर्व	25.00
10.	भावसंग्रह (अनुवाद)	
11.	नीतिशतक (अनुवाद)	
12.	शिशुपालवध प्र. सर्ग (अनुवाद)	
13.	नैषधीयचरितम् तृ. सर्ग (अनुवाद)	
14.	माण्डूक्योपनिषद् (अनुवाद)	
15.	बुद्धचरितम् प्र. सर्ग (अनुवाद)	
16	शिवराज विजय - पंचम निश्वास (अनुवाद)	
17.	पार्श्वाभ्युदय (अनुवाद)	
18.	सुदर्शनचरित (अनुवाद)	
19.	प्रमेयरत्नमाला (अनुवाद)	
20.	श्रावक धर्म (अनुवाद)	
21.	सिद्धचक्रविधान (सम्पादन)	75.00